www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुष्प नं. 20

# पञ्च कल्याणक प्रवचन

बीछिया, राजकोट, लाठी और सोनगढ़ में
पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर हुए
**पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के
प्रासङ्गिक प्रवचनों का सङ्कलन

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
**पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राजस्थान)

प्रकाशक
अन्तर्राष्ट्रीय दिगम्बर जैन मुमुक्षु महासंघ के अन्तर्गत
**श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्णकुंज, वी.एल.मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट)
मुम्बई — 56

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रथमावृत्ति : **1000 प्रतियाँ**

*** वीर नि. सं. 2535 * वि. सं. 2064 * ई.स. 2009**

(श्री महावीरस्वामी दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, सोनागिर के अवसर पर)

**न्योछावर राशि :** रुपये 10.00

प्राप्ति स्थान :

**श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**

30, कृष्णकुंज, प्लाट नं. 30,

वी.एल. मेहता मार्ग, विले पार्ले (प.), मुम्बई-400056

**तीर्थधाम मङ्गलायतन**

अलीगढ़-आगरा रोड, **सासनी,** जिला-हाथरस (उ.प्र.)

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.)-302015

**टाइप सेटिंग :**

**विवेक ग्राफिक्स, अलीगढ़**

**मुद्रक व्यवस्था :**

**देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर**

## प्रकाशकीय

**पञ्च कल्याणक प्रवचन** ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए, हम अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस ग्रन्थ में बीछिया, राजकोट, लाठी एवं सोनगढ़ में सम्पन्न पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों का सङ्कलन किया गया है। जिसमें पञ्च कल्याणक सम्बन्धी घटनाओं के भाववाही वर्णन के साथ-साथ पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा बहायी गयी आध्यात्मिक गंगा का पावन प्रवाह विद्यमान है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि पूज्य गुरुदेवश्री की दृष्टि में पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव मात्र क्रियाकाण्ड एवं प्रदर्शन की वस्तु नहीं था। **वस्तुतः पञ्च कल्याणक का उद्देश्य तो भगवान बनने की प्रायोगिक पद्धति सिखलाना होता है।** जिसके दर्शन पूज्य गुरुदेवश्री के इस प्रवचन ग्रन्थ में कदम-कदम पर होते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि पूज्य गुरुदेवश्री के अवतरण से पूर्व काठियावाड़ सौराष्ट्र में दिगम्बर जैनधर्म का अता-पता भी नहीं था। पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समयसार को पाकर दिगम्बर जैनधर्म अपनाने के पश्चात्, उनके प्रभावनायोग से सौराष्ट्रसहित सम्पूर्ण देश एवं विदेशों में जो जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का युग प्रवर्तमान हुआ है, वह सर्वविदित है। जो पञ्च कल्याणक महोत्सव लोगों के पारस्परिक मिलनरूप मेला, बोलियों एवं मात्र आमोद-प्रमोद के साधन बन कर रह

www.vitragvani.com



गये थे, उन्हीं पञ्च कल्याणकों में आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के बीज डालकर पूज्य गुरुदेवश्री ने इन्हें जीवन्तरूप प्रदान किया है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीवमात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में अपनी-अपनी शक्ति एवं साधनों के अनुरूप संलग्न है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पञ्च कल्याणक प्रवचन का गुजराती संस्करण श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ द्वारा सन् 1951 में गुजराती

www.vitragvani.com



भाषा में प्रकाशित किया गया था। वर्तमान में यह ग्रन्थ गुजराती में भी अनुपलब्ध है। साथ ही वर्तमान समय में पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों की संख्या में तो आशातीत वृद्धि हो रही है परन्तु वे महोत्सव आत्मदर्शन के स्थान पर प्रदर्शन की वस्तु बनते जा रहे हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रासङ्गिक कार्यक्रमों को तत्त्वज्ञान की दिशा में अग्रसर होने का एक सुअवसर प्राप्त होगा और यदि पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की दिव्यदेशना को जन-जन तक प्रचारित-प्रसारित करने का साधन बन सकेंगे तो इस ग्रन्थ के प्रकाशन का उद्देश्य सफल हो जाएगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के पावन अवसर पर वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के श्रीचरणों में सादर वन्दन समर्पित करते हैं। साथ ही वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति एवं अर्पणता जगानेवाले अपने जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबेनसहित समस्त ज्ञानी-धर्मात्माओं के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के गुजराती सङ्कलनकार एवं प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। इस ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में रूपान्तरण एवं सम्पादन के लिए पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

सभी आत्मार्थीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का अध्ययन कर पञ्च कल्याणक महोत्सव के सम्यक् स्वरूप को पहचान कर स्वाभावसन्मुख होवें – इसी मङ्गल भावना के साथ।

**प्रस्तुतकर्ता**

## प्रस्तावना

अहो! जिनेन्द्र पञ्च कल्याणक! श्री जिनेन्द्रदेव के पञ्च कल्याणक का मङ्गल महोत्सव विश्व के समस्त माङ्गलिक महोत्सवों में सर्वोत्तम है... ये पञ्च कल्याणक, संसार में से जीवों को कम करते हैं और मुक्त जीवों में वृद्धि करते हैं। इस पञ्च कल्याणक प्रसङ्ग में सम्पूर्ण विश्व को पावन करता हुआ दिव्य प्रकाश सर्वत्र व्याप्त होता है।

मङ्गल आत्मा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रताप से सौराष्ट्र में ऐसे पञ्च कल्याणक के मङ्गल महोत्सव मनाने और देखने का सौभाग्य भारत के मुमुक्षुओं को कई बार प्राप्त हुआ है। अहो! इन पञ्च कल्याणकों के पावन दृश्य! इस प्रसङ्ग की महिमा... इसका उत्साह... और इसकी गम्भीरता... तो प्रत्यक्षदर्शी ही जानता है। वास्तव में इन पञ्च कल्याणक के दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह भी मुमुक्षुओं का महा-सौभाग्य है... इन पञ्च कल्याणकों को देखने के पश्चात् उल्लासमान भक्तों को तो ऐसी झनझनाहट होती है कि अहा... तीर्थङ्कर प्रभु के पञ्च कल्याणकों को कब नजरों से निहारेंगे।

सोनगढ़ पञ्च कल्याणक में प्रभु का जन्म, दीक्षा इत्यादि प्रसङ्गों में मस्त हाथी पर धर्मात्मा बैठे हों... और जिनेन्द्र देव की रथयात्रा निकलती हो ऐसे-ऐसे भव्य प्रसङ्ग के मङ्गल दृश्य जिनमन्दिर में देख-देखकर आज पुनः इन पवित्र प्रसङ्गों को निहारने का मन हुए बिना नहीं रहता।

www.vitragvani.com



सौराष्ट्र में हुए पञ्च कल्याणक महोत्सव में पूज्य गुरुदेवश्री ने आध्यात्मिक उपदेश द्वारा जो परम कल्याणकारी अमृत वर्षा की है, उसमें से कितनी ही भाव इस ग्रन्थ में समाहित है।

सौराष्ट्र में (सोनगढ़ दो बार, बीछिया, लाठी, राजकोट में एक -एक) पाँच बार के पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा द्वारा परम पूज्य गुरुदेवश्री के पवित्र हस्त से 97 वीतरागी जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई है और यदि समवसरण के चहुँमुखी प्रतिमा की चार मुद्रा भिन्न-भिन्न गिनी जाये तो परमपूज्य गुरुदेवश्री के हस्त से सौ वीतरागी जिन मुद्रा की प्रतिष्ठा हुई हैं तथा सोनगढ़ में सीमन्धर प्रभु के समवसरण में परमगुरुश्री कुन्दकुन्दाचार्य की प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी गुरुदेवश्री के मङ्गल हस्त से हुई है। तदुपरान्त सोनगढ़ में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर का उद्घाटन वीर निर्वाण संवत् 2464 के वैशाख कृष्ण अष्टमी को हुआ है। उस प्रसङ्ग पर उसमें महान् परमागम श्रीसमयसारजी की विधिपूर्वक स्थापना पूज्य भगवती बहिनश्री चम्पाबेन के शुभहस्त से हुई है।

इस प्रकार मूलनायक श्री सीमन्धर प्रभु जैसे विद्यमान देवादिदेव; श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु जैसे परमगुरु; और श्रीसमयसार जैसा महान् परमागम शास्त्र – इन तीनों की सुप्रतिष्ठा के त्रिवेणी सङ्गम से सोनगढ़ एक अजोड़ तीर्थधाम के रूप में सुशोभित हो रहा है। इन सबके अतिरिक्त सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पूज्य सद्गुरुदेवश्री के कल्याणकारी अमोघ उपदेश का महान् लाभ सोनगढ़ में निरन्तर प्राप्त हो रहा है। दूर-दूर के हजारों जिज्ञासु लाभ लेने हेतु यहाँ आते हैं और अपने को धन्य समझते हैं... तथा जहाँ जाते हैं, वहाँ कहते हैं कि **दूसरी सब जगह तो जाना बने या न बने लेकिन सोनगढ़ तो अवश्य जाना।**

श्री वीतराग भगवान के दर्शन और उपदेश का सीधा श्रवण इन दोनों का यथार्थ सुमेल आज यदि कहीं प्रगटरूप से दृष्टिगोचर हो तो वह

www.vitragvani.com



सोनगढ़ में है। इस जागृत तीर्थ की यात्रा प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य करनी चाहिए।

श्री देव-गुरु-धर्म की प्रभावना दर्शानेवाले तथा उनका स्वरूप समझानेवाले इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा जिज्ञासु जीव, देव-गुरु-धर्म का सत्यस्वरूप समझें और उनकी प्रभावना में वृद्धि करें – यही भावना है।

चैत्र पूर्णिमा
वीर निर्वाण संवत् 2477

**रामजी माणिकचन्द दोशी**
प्रमुख, श्री दिगम्बर जैन
स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

---

**नोट :** प्रस्तुत प्रस्तावना में वर्णित पाँच प्रतिष्ठाएँ एवं सौ जिनबिम्बों की संख्या को आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व के सन्दर्भ में देखना चाहिए। इसके पश्चात् तो पूज्य गुरुदेवश्री के माध्यम से सैकड़ों जिनमन्दिरों की स्थापना एवं हजारों जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई है और गुरुदेवश्री के प्रभावनायोग में उनकी परम्परा में यह क्रम आज भी जारी है। – ***सम्पादक***

## सम्पादकीय

परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूर्ण एवं जिनभक्ति से ओतप्रोत मङ्गल प्रवचनों का सङ्कलन **पञ्च कल्याणक प्रवचन** सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के बीछिया, राजकोट, लाठी एवं सोनगढ़ में सम्पन्न हुए पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रासङ्गिक प्रवचनों का सङ्कलन प्रस्तुत किया गया है।

यह तो सर्व विदित है कि पूज्य गुरुदेवश्री ने अपनी पैंतालीस वर्षीय आध्यात्मिक जीवन में जहाँ अध्यात्म के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन किया है, वहीं उनकी वाणी ने वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अर्पणता एवं भक्ति के स्वर भी गुञ्जायमान हुए हैं। जिस सौराष्ट्र प्रान्त में दिगम्बर जैन धर्म का नाम -निशान भी नहीं था; आज पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय से उस सौराष्ट्र धरा पर अनेक जिन मन्दिरों का नव-निर्माण एवं पञ्च कल्याणक व वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न हुए हैं। जिन मन्दिर निर्माण का यह प्रवाह सौराष्ट्र से बाहर निकलकर सम्पूर्ण देश और विदेश में भी प्रवर्तमान हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री के पुण्य प्रताप से आज देश और विदेश में सैंकड़ों जिन मन्दिरों का निर्माण एवं पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव निरन्तर आयोजित हो रहे हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की मङ्गल उपस्थिति में ही भारत से बाहर अफ्रीका नैरोबी में पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवपूर्वक जिन मन्दिर की स्थापना हो चुकी है।

www.vitragvani.com



पूज्य गुरुदेवश्री के पुण्य प्रताप से निर्मित ये जिनायतन, मात्र भक्ति के केन्द्र ही नहीं हैं, अपितु इनमें प्रतिदिन जिनवाणी की आराधनारूप शास्त्र स्वाध्याय से हजारों-लाखों जीव तत्त्वज्ञान का रसपान करके अपनी भवाग्नि का शमन करने का प्रयास कर रहे हैं। सच तो यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान ने ही इन पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों को एक प्रकार से जीवन्तरूप प्रदान किया है और गुरुदेवश्री की इस अफरवाणी को सत्य कर दिखाया है कि पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का साक्षात् दर्शन, सम्यग्दर्शन में निमित्त होता है।

पञ्च कल्याणक महा-महोत्सव, दिगम्बर जैन समाज का सर्वाधिक लोकप्रिय उत्सव है। इस महोत्सव में उन मुक्ति-साधक महान आत्माओं की गर्भवास से लेकर मुक्ति प्राप्ति तक की घटनाओं का स्थापना निक्षेप के आधार पर प्रदर्शन किया जाता है, जो तीर्थङ्कर होते हैं। यह सम्पूर्ण प्रदर्शन राग से विरागता और अपूर्णता से पूर्णता का परिचायक है।

सनातन नियमानुसार अनादि-अनन्त काल प्रवाह में चौथे काल में चौबीस तीर्थङ्करों का जन्म होता है और वे अपनी पूर्वभव से आधारित आराधना की पूर्णता इस भव में प्राप्त करते हैं। पूर्व भवों में ही आन्तरिक वीतराग परिणति के साथ-साथ उनकी परिणति में लोकमाङ्गल्य की करुण सरिता प्रवाहित होती है, जिसके फलस्वरूप उन्हें सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध होता है। यद्यपि वे धर्मात्मा उस पुण्यभाव और तीर्थङ्कर प्रकृति के प्रति किञ्चित् भी व्यामोहित नहीं होते, वे उसके प्रति उपेक्षाभाव ही रखते हैं; तथापि उनकी उपेक्षित प्रकृति भी लोककल्याण की अद्भुत निमित्त बन जाती है।

उन महापुरुषों के जीवन की पाँच प्रमुख घटनाएँ – गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष, कल्याणस्वरूप और कल्याणकारक होने से कल्याणक कहलाती हैं और सम्पूर्ण घटनाएँ पाँच होने से पञ्च कल्याणक कहलाती हैं।

www.vitragvani.com



यद्यपि गर्भ में आना और जन्म लेना तो कलङ्क है, तथापि जिस गर्भवास और जन्म के बाद सदा के लिए जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त हो जाए, वह गर्भ और जन्म भी कल्याणक कहे जाते हैं।

जैन पुराणों में प्राप्त इन तीर्थङ्करों की गौरव गाथाएँ बतलाती हैं कि आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा मनुष्य पर्याय से ही नहीं, अपितु सिंह और हाथी इत्यादि तिर्यञ्चपर्याय से भी जीवों ने अपने आत्मकल्याण का मङ्गल प्रारम्भ किया है।

इन घटनाओं के अनुशीलन से अपने को किसी भी प्राणी की दीन-हीन दशा में भी उसके प्रति जुगुप्सा / घृणा का भाव उत्पन्न नहीं होता। साथ ही स्वयं की दीन-हीन दशा में भी आत्मबल खण्डित नहीं होकर आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ का प्रचण्ड वेग जागृत होता है। इस महोत्सव में होनेवाला प्रत्येक कार्यक्रम मुक्तिमार्ग का सुर-सङ्गीत सुनाता हो – ऐसा लगता है।

इन्हीं भावों से प्रेरित होकर प्रस्तुत ग्रन्थ पञ्च कल्याणक प्रवचन का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन का भाव जागृत हुआ। इन प्रवचनों के सम्पादन में जो-जो कार्य किया गया है, वह इस प्रकार है –

❖ सम्पूर्ण प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद मूलत: शाब्दिक रखा गया है। साथ ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि प्रवचनों की भाषा सरल एवं प्रवाहमयी बनी रहे।

❖ प्रवचन ग्रन्थ के लम्बे-लम्बे गद्यांशों को विभाजित करके छोटा किया गया है।

❖ प्रवचन के प्रारम्भ में उस कल्याणक सम्बन्धी घटना को सर्व प्रथम रखते हुए तत्पश्चात् शेष आध्यात्मिक प्रवचन दिया गया है।

इस प्रवचन ग्रन्थ का गुजराती में प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट द्वारा सन् 1951 में किया गया था। जिसमें पूज्य गुरुदेवश्री के

www.vitragvani.com



पञ्च कल्याणक प्रवचनों के साथ-साथ पञ्च कल्याणक सम्बन्धी संस्मरण भी समाहित किये गये थे; जो अब अप्रासङ्गिक होने से इस ग्रन्थ में नहीं लिये गये हैं, मात्र प्रवचन ही सम्पूर्णरूप से लिये गये हैं। इस सम्बन्ध में बाल ब्रह्मचारी श्री हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ से उचित मार्गदर्शन प्राप्त हुआ; तदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

इन सभी कार्यों के शक्ति प्रदाता परम उपकारी वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के श्रीचरणों में सादर वन्दन समर्पित करते हुए, अपने को धन्य अनुभव करता हूँ। वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु से परिचय करानेवाले अपने जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्रीचरणों में बारम्बार नमन करता हूँ।

मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत अपने विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्य भक्त पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का सुअवसर प्रदान करने के लिए प्रकाशक परिवार के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। इस ग्रन्थ की लेजर टाइप सेटिंग एवं कवर डिजाइन को सुन्दररूप में प्रस्तुति देने के लिये विवेक ग्राफिक्स के सञ्चालक विवेककुमार पाल को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

सभी साधर्मीजन गुरुदेवश्री की इस महा-मङ्गल वाणी का अवगाहन करके अनन्त सुखी हों – इस मङ्गल भावना के साथ।

**तीर्थधाम मङ्गलायतन**
28 अक्टूबर, 2008
भगवान महावीर निर्वाण पर्व

**देवेन्द्रकुमार जैन**
बिजौलियाँ
जिला-भीलवाड़ा (राज०)

www.vitragvani.com

# अनुक्रमणिका

## 1. बीछिया पञ्च कल्याणक


गर्भकल्याणक प्रवचन – 1 : **धर्म और अधर्म** 1

जन्मकल्याणक प्रवचन – 1 : **धर्मी जीव की भावना** 25

दीक्षाकल्याणक प्रवचन – 1 : **दीक्षावन में वैराग्य भावना** 40

ज्ञान कल्याणक प्रवचन – 1 : **अरिहन्तदेव की दिव्यध्वनि का सार** 54

मोक्षकल्याणक प्रवचन – 1 : **भवक्लान्त जीव का विश्राम** 72


## 2. राजकोट पञ्च कल्याणक


गर्भकल्याणक प्रवचन – 2 : **भेदविज्ञान की विधि** 86

जन्मकल्याणक प्रवचन – 2 : **धर्मी और अधर्मी का कार्य क्या ?** 95

दीक्षाकल्याणक प्रवचन – 2 : **भगवान की दीक्षा और मुनिदशा** 105

ज्ञानकल्याणक प्रवचन – 2 : **दिव्यध्वनि में स्वतन्त्रता का उपदेश** 115

मोक्षकल्याणक प्रवचन – 2 : **मुक्ति का उपाय : भेदविज्ञान** 129


## 3. लाठी पञ्च कल्याणक


गर्भकल्याणक प्रवचन – 3 : **जीव की धार्मिक प्रवृत्ति क्या ?** 140

जन्मकल्याणक प्रवचन – 3 : **अनन्त जन्म-मरण की कारणभूत मोहग्रन्थि का क्षय कब ?** 156

दीक्षाकल्याणक प्रवचन – 3 : **ज्ञानसमुद्र में उछलती वैराग्य तरङ्गें** 172

ज्ञानकल्याणक प्रवचन – 3 : **दिव्यध्वनि की घोषणा** 184

मोक्षकल्याणक प्रवचन – 3 : **जिनवर तुल्य जिन प्रतिमा** 210

www.vitragvani.com

## 4. सोनगढ़ पञ्च कल्याणक


| | |
|---|---|
| भक्त के हृदय में उछलती जिनेन्द्र-भक्ति की लहरें | 216 |
| कैसा होता है वीतराग का भक्त | 235 |
| जिन-भक्ति सरिता | 250 |
| किसने किये हैं भगवान के दर्शन | 265 |
| किसे जगती है भगवान की भावना ? | 266 |
| वीतरागता के लक्ष्यपूर्वक भगवान की भक्ति | 267 |
| भगवान की भक्ति | 268 |
| वीतरागमुद्रित जिनप्रतिमा | 270 |
| भगवान की व्यवहार स्तुति भी किसे ? | 273 |
| क्या करता है भगवान का भक्त! | 275 |
| सच्ची भक्ति का फल मुक्ति | 276 |

ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

# पञ्च कल्याणक प्रवचन

**गर्भकल्याणक प्रवचन** - 1

## धर्म और अधर्म

देखो! यह पञ्च कल्याणक महोत्सव के दिन हैं। वस्तुतः तो सर्वज्ञ भगवान कैसे होते हैं और उन्होंने आत्मा का कैसा स्वरूप कहा है? – यह पहिचानकर, अपनी आत्मा का भान प्रगट करना ही महोत्सव है और वही कल्याण का मार्ग है। सुपात्र जीवों को देव –गुरु–धर्म की प्रभावना का तथा जिनमन्दिर बनाने का शुभभाव होता है परन्तु वहाँ अकेले राग का हेतु नहीं है, उनका लक्ष्य तो अन्दर में वीतरागभाव के पोषण का होता है।

आत्मा का स्वभाव रागरहित है, उस स्वभाव के लक्ष्य बिना जीव ने पूर्व में पञ्च कल्याणकादि के शुभभाव तो अनन्त बार किये हैं और उन्हीं में धर्म मान लिया है परन्तु आत्मा के भान बिना

www.vitragvani.com



उसका भवभ्रमण नहीं मिटा है। यहाँ तो आत्मा का अपूर्व भान प्रगटकर भवभ्रमण कैसे मिटे – यह बात है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दस्वामी के पट्ट शिष्य श्री जयसेनाचार्य ने प्रतिष्ठा पाठ बनाया है। श्री कुन्दकुन्द प्रभु ने उन्हें प्रतिष्ठा पाठ बनाने की आज्ञा प्रदान की थी। इस प्रकार लगभग दो हजार वर्ष पूर्व श्री चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिष्ठा के लिए गुरु कुन्दकुन्दस्वामी की आज्ञा से श्री जयसेनाचार्य ने दो दिन में यह प्रतिष्ठा पाठ बनाया था; इस कारण श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उनका नाम 'वसुबिन्दु' रखा। वसु, अर्थात् आठ कर्म और बिन्दु, अर्थात् उनका नाश करनेवाला – इस प्रकार 'वसुबिन्दु' का अर्थ आठ कर्मों का नाश करनेवाला है।

दो हजार वर्ष पूर्व चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिष्ठा के लिए यह 'वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ' बना, इसका उपयोग आज इस सौराष्ट्र में यहाँ चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिष्ठा के लिए हो रहा है। इस प्रकार सहज ही एक सुमेल हो गया है।

इस प्रतिष्ठा पाठ में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करानेवाले श्रावक का वर्णन आता है। वह श्रावक, श्रीआचार्यदेव के पास जाकर आज्ञा माँगता है कि हे प्रभो! मैं इस लक्ष्मी को, धनादि सम्पत्ति को कुलटा के समान और अनित्य जानता हूँ। हे स्वामी! इस अनित्य लक्ष्मी के प्रति राग घटाकर, उसका सदुपयोग किस प्रकार करूँ? मेरी भावना श्री जिनमन्दिर बनवाकर, श्री अरिहन्त भगवान के पञ्च कल्याणक महोत्सव कराने की है। इस प्रकार मैं लक्ष्मी का सदुपयोग करके अपना जीवन सफल करूँ – इसके लिए हे

www.vitragvani.com



नाथ! आज्ञा प्रदान करो। तत्पश्चात् उसे आज्ञा प्रदान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि धन्य है, तू अपने कुल में सूर्य समान है।

देखो! वस्तुतः आत्मा परद्रव्य का ग्रहण–त्याग नहीं कर सकता। लक्ष्मी इत्यादि जड़ है, आत्मा उसकी क्रिया नहीं कर सकता तो भी प्रतिष्ठा पाठ में लक्ष्मी के सदुपयोग की बात आयी है – यह व्यवहार कथन है। वहाँ यह नहीं बताना है कि आत्मा, लक्ष्मी इत्यादि की क्रिया कर सकता है परन्तु वहाँ राग घटाने का तात्पर्य है।

शास्त्र में निमित्त की अपेक्षा से कथन तो आते हैं परन्तु वस्तुस्वरूप को लक्ष्य में रखकर उनके भाव समझने चाहिए। रागरहित आत्मस्वभाव को जानकर, उसमें स्थिरता करना ही समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है। शास्त्रों में सूत्र का तात्पर्य प्रत्येक सूत्रानुसार अलग होता है। कई बार व्यवहार का, निमित्त का अथवा संयोग का ज्ञान कराने के लिए अनेक प्रकार के कथन आते हैं परन्तु शास्त्र का तात्पर्य तो वीतरागभाव के पोषण का ही है। आत्मा, परद्रव्य की क्रिया कर सकता है – यह बतलाना शास्त्र का प्रयोजन नहीं है। ऐसा होने पर भी, जो जीव विपरीत समझकर रागभाव के पोषण का आश्रय निकालता है, वह जीव तो वस्तुतः शास्त्र के आशय को समझा ही नहीं है।

आत्मा अपने रागरहित ज्ञानस्वभाव के भान बिना अनादि से राग–द्वेष–मोहभाव का कर्ता होकर संसार में परिभ्रमण करता है। आत्मा का भान करके शुद्धोपयोग प्रगट करने से ही वह परिभ्रमण मिटता है। अशुद्ध उपयोग, संसार का और शुद्ध उपयोग, मुक्ति का

www.vitragvani.com



कारण है; इस कारण धर्मी जीव उस अशुद्धोपयोग का विनाश करके शुद्ध उपयोग से आत्मा में लीन रहने की भावना करता है – यह वर्णन इस प्रवचनसार की गाथा 159 वीं में किया है।

आत्मा स्वयं–सिद्ध असंयोगी वस्तु है; न तो उसे किसी ईश्वर ने उत्पन्न किया है और न वह नाश होकर किन्हीं संयोगों में मिल जाता है। आत्मा, स्वतन्त्र चैतन्यस्वभाव की मूर्ति है; उसको जो परद्रव्य के लक्ष्य से शुभ या अशुभ उपयोग होता है, वह बन्धन है – अशुद्धता है; वह भाव, आत्मा के धर्म का कारण नहीं है। शुभ अथवा अशुभ दोनों भावों से आत्मा के स्वभाव का विकास न होकर बन्धन होता है और उससे आत्मा को शरीरादि परद्रव्यों का संयोग, अर्थात् संसार होता है।

शुभाशुभराग से रहित आत्मा के स्वभाव की पहिचान करके उसमें रमणता करना शुद्धोपयोग है, वही धर्म है और वह मोक्ष का कारण है। अशुद्ध उपयोग, परद्रव्य का अनुसरण करके होता है और उसके फल में भी परद्रव्य का ही संयोग होता है। शुद्धोपयोग, स्वद्रव्य का अनुसरण करके होता है और उसके फल में मुक्तदशा प्रगट होती है।

शरीर और कर्म तो अजीवतत्त्व है, उनमें जीव का धर्म नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुसङ्ग आदि भाव, पापतत्व है और देव–शास्त्र–गुरु की भक्ति, जीवों की दया इत्यादि भाव, पुण्यतत्व है; इन पुण्य–पाप तत्वों में भी जीव का धर्म नहीं है। शुद्ध ज्ञानमय जीवतत्व के आश्रय से जो सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र प्रगट होता है, वही धर्म है।

www.vitragvani.com



जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, उसमें अनन्त काल में यह मनुष्य देह पाकर यदि आत्मसन्मुखता नहीं करे और अभी सत् नहीं समझे तो जन्म–मरण का अन्त करने का प्रारम्भ भी नहीं होगा। पुण्य–पापरहित त्रिकाली चैतन्यमूर्ति आत्म–स्वभाव की पहिचान करके उसकी रुचि–प्रतीति और रमणता करना ही शुद्धोपयोग है और वही मुक्ति का कारण है। देव–गुरु इत्यादि पर की भक्ति का शुभभाव अथवा पर के अविनय का अशुभभाव – दोनों में परसन्मुखता है; इस कारण वे दोनों उपाधिभाव हैं, उनमें धर्म नहीं है।

प्रभु! तेरी चैतन्य जाति क्या है – वह यहाँ बताया जा रहा है। जो आत्माएँ अन्तरस्वभाव का भान करके, उसमें एकाग्रता द्वारा राग–द्वेष का अभाव करके पूर्ण परमात्मा हुए हैं, उन आत्माओं जैसी ही तेरी जाति है। उनमें से राग–द्वेष का अभाव हुआ; अतः राग–द्वेष तेरी जाति नहीं है। जैसे, पानी का मूल स्वभाव शीतलता है, उष्णता उसका स्वरूप नहीं है; उसी प्रकार जो आत्मा में मोह–राग–द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे आत्मा का मूल स्वरूप नहीं है। आत्मा का मूल स्वरूप तो सिद्ध समान परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप, राग–द्वेष रहित है। बहिर्लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभभावों से बाह्य संयोग मिलते हैं परन्तु स्वभाव नहीं मिलता। शुभाशुभभाव, आत्मा को आकुलतारूप दुःख का ही कारण है। शुभाशुभभाव, परद्रव्य के संयोग का कारण है – यह कहना भी मात्र निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन है।

पुण्य और पाप दोनों संयोगीभाव है, उनसे आत्मा को नया

www.vitragvani.com



बन्धन होता है। जिस भाव से आत्मा को नया बन्धन हो, वह भाव धर्म नहीं हो सकता और जो भाव धर्म हो, वह नये बन्ध का कारण नहीं होता। यदि धर्मभाव से भी बन्धन होता हो तो ज्यों–ज्यों धर्म बढ़ता जाए त्यों–त्यों आत्मा को बन्धन भी बढ़ता जाएगा, तो फिर आत्मा की मुक्ति कब होगी ? इसलिए धर्म कभी बन्धन का कारण नहीं होता। इसी प्रकार शुभराग भी बन्धन का कारण होने से उससे धर्म नहीं होता। यदि रागभाव, धर्म का कारण होता हो तो ज्यों–ज्यों राग बढ़े, त्यों–त्यों धर्म भी बढ़ता जाएगा, अर्थात् केवली भगवान को सर्वाधिक राग हो जाएगा, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जिस भाव से बन्धन होता है, उस भाव से धर्म नहीं होता और जिस भाव से धर्म होता है, उस भाव से बन्धन नहीं होता। जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्धन होता है, वह भाव भी आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध भाव है, बन्धनभाव है और स्पष्ट शब्दों से कहा जाए तो वह भी अधर्मभाव है; कारण कि धर्मभाव के द्वारा कर्मों का बन्धन नहीं होता।

कोई कहे कि तीर्थङ्करनामकर्म बँधा, उस भाव से आँशिक धर्म तो है न ?

तो कहते हैं कि नहीं; जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, वह भाव आंशिक धर्म नहीं परन्तु आंशिक अधर्म है। यहाँ 'आंशिक अधर्म' किसलिये कहा – इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

जिस रागभाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधा, वह रागभाव तो अधर्म ही है, उसमें धर्म का कोई अंश नहीं है परन्तु तीर्थङ्करनामकर्म, सम्यग्दृष्टि को ही बँधता है; शुभभाव के समय सम्यग्दृष्टि को

www.vitragvani.com



आत्मा का यथार्थ श्रद्धान–ज्ञान है, उतने अंश धर्म है और जितना राग है, उतना अधर्म है। इस प्रकार ज्ञानी को राग के समय भी सम्यग्दर्शन–ज्ञान के अंश हैं – यह बताने के लिए उसके राग को 'आंशिक अधर्म' कहा है। उसको राग के समय मिथ्यात्वरूप अधर्म नहीं है; इस कारण उसको 'आंशिक अधर्म' कहा है और मिथ्यादृष्टि तो उस राग को ही धर्म मानता है; इस कारण उसको आंशिक अधर्म नहीं, किन्तु पूरा–पूरा अधर्म है, धर्म जरा भी नहीं है।

सच्चे देव–गुरु की भक्ति, जीवों की अनुकम्पा इत्यादि का भाव शुभभाव है और सच्चे देव–गुरु से विरुद्धरूप कुमार्ग की श्रद्धा, कुश्रवण, कुविचार, कुसङ्ग तथा विषय–कषाय आदि के भाव, अशुभभाव हैं। यह शुभाशुभभाव आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण है – इस कारण वह अधर्म है – अशुद्धभाव है तथा इन शुभाशुभभावों से रहित होकर आत्मा के ध्यान में लीन होना शुद्धभाव है – धर्म है और आत्मा को मुक्ति का कारण है। इसलिए अशुद्ध उपयोग का विनाश करने के लिए और शुद्धोपयोग द्वारा आत्मा में लीन रहने के लिये धर्मी जीव कैसा अभ्यास करता है – उसका वर्णन करते हुए आचार्य भगवान (प्रवचनसार, गाथा–159 में) कहते हैं कि —

**अशुभोपयोग रहित न शुभ उपयुक्त हो परद्रव्य में**
**मध्यस्थ हो ज्ञानात्मक निज आत्मा ध्याता हूँ मैं॥**

'अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ मैं, अशुभोपयोगरहित होता हुआ तथा शुभोपयुक्त नहीं होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता

www.vitragvani.com



हूँ' – इस प्रकार परद्रव्य के संयोग का कारण जो अशुद्धोपयोग, उसके विनाश के लिए ज्ञानी अभ्यास करता है। यहाँ मुख्यरूप से मुनि की बात है।

यह ज्ञेय अधिकार है। श्री जयसेनाचार्य ने इसे दर्शनशुद्धि का अधिकार भी कहा है। सम्यग्दर्शन, धर्म का मूल है और चारित्र, साक्षात् धर्म है। वह चारित्र कोई बाह्य क्रियाकाण्ड में नहीं परन्तु आत्मा में मोह और क्षोभरहित वीतरागी साम्यभाव प्रगट होना चारित्र है। व्रत और अव्रतरहित आत्मा का वीतरागभाव ही चारित्र धर्म है। उस चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्रधर्म कभी नहीं होता।

जगत के समस्त पदार्थ ज्ञेय हैं और मेरा ज्ञानस्वभाव उन सबको जाननेवाला है। इस प्रकार ज्ञेय पदार्थों की प्रतीति के साथ अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति भी आ जाती है, इसलिए ज्ञेय अधिकार में दर्शनशुद्धि का वर्णन भी समाहित हो जाता है। जो दर्शनशुद्धि प्रगट हुई है, वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। दर्शनशुद्धि स्वयं अपने को नहीं जानती, बल्कि ज्ञान उसे जानता है।

आत्मा में ज्ञान स्वभाव है, इसलिए वह सबको जाननेवाला है और प्रत्येक पदार्थ में प्रमेयत्वगुण है, इसलिए समस्त पदार्थ ज्ञान में ज्ञात होने योग्य–ज्ञेय हैं। यह आत्मा स्वयं ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है। आत्मा के ज्ञान में समस्त पदार्थ ज्ञात हों – ऐसा स्वभाव है। पदार्थों का स्वभाव ऐसा है कि वे ज्ञान में ज्ञात हों और ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह पदार्थों को जाने। आत्मा का पर के साथ ऐसा ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा

www.vitragvani.com



पर में कुछ करे अथवा परवस्तु आत्मा में कुछ करे – ऐसा ज्ञान का अथवा ज्ञेय का स्वभाव नहीं है। ऐसे स्वभाव की प्रतीति ही धर्म का मूल और प्रारम्भ है।

समस्त परज्ञेय मुझसे भिन्न हैं, मैं उनका जाननेवाला ही हूँ, उनमें कुछ करनेवाला नहीं; मेरा स्वभाव ज्ञान ही है; इस प्रकार ज्ञेय –ज्ञायक का भेदज्ञान और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने के बाद धर्मी कैसी भावना करता है, वह यहाँ बताया जा रहा है।

धर्मी जीव ऐसी भावना करता है कि अशुभ और शुभ उपयोगरहित होता हुआ तथा समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर मैं अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को ध्याता हूँ। शुभाशुभभावरहित आत्मा का भान तो चौथे गुणस्थान से ही हो जाता है।

अब, यहाँ तो आचार्यदेव अपनी वर्तमान भूमिका से चारित्रदशा के शुद्धोपयोग की बात करते हैं। शुभाशुभभावों से रहित आत्मा के स्वभाव का भान होने के पश्चात् चारित्रदशा में जो शुभभाव होता है, वह भी बन्ध का कारण होने से, उसको छोड़कर में आत्मस्वभाव को ध्याता हूँ, अर्थात् मैं स्वद्रव्य को ही दृष्टि में लेकर उसमें स्थिर होता हूँ – यह शुद्धोपयोग है, इससे अशुद्धोपयोग का विनाश होता है।

जीव को परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्धोपयोग है – इस प्रकार 156 वीं गाथा में अशुद्धोपयोग की बात करके, उसके शुभ और अशुभरूप दो भेदों का वर्णन 157 गाथा 158 वीं गाथा में किया है। अब, इस गाथा 159 में अशुद्धोपयोग के नाश के उपाय की बात करते हैं।

www.vitragvani.com



जीव ने कभी अनन्त काल से आत्मा के स्वभाव की बात रुचि से नहीं सुनी है। जब सत् सुनानेवाले मिले, तब कान में बात पड़ी परन्तु अन्दर में उसकी रुचि प्रगट नहीं की। आत्मस्वभाव की समझ के बिना अनन्त बार समवसरण में जाकर हीरों के थाल में कल्पवृक्षों के पुण्यों से साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान की पूजा की, बाहर में भगवान के सन्मुख देखा परन्तु अन्तर में अपना आत्मा भगवान है, उसके सन्मुख नहीं देखा; इस कारण पुण्य बाँधकर संसार में परिभ्रमण किया। किसी समय देव होकर साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान के पञ्च कल्याणक में गया परन्तु उस समय मात्र बाह्य संयोग पर दृष्टि रखी और पुण्य–क्रिया में आत्मा का धर्म मान लिया; इस कारण संसार में ही परिभ्रमण किया। अन्दर में सहज चैतन्यस्वभाव आत्मा क्या है और उसकी धर्म की क्रिया क्या है? – इस बात को नहीं समझा।

देखो! यहाँ धर्म की क्रिया कही जा रही है। आत्मा के सहजस्वभाव को पहिचानकर उसकी श्रद्धा व ज्ञान करना धर्म की पहली क्रिया है। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में दिखनेवाली बाहर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है; अन्दर में होनेवाला शुभराग, आत्मा की विकारीक्रिया है और 'मैं जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं हूँ तथा राग मेरा स्वभाव नहीं है' – इस प्रकार जड़ और विकार की क्रिया से भिन्न अन्तर में चैतन्यस्वभाव का भान करना, धर्म की क्रिया है। इस प्रकार क्रिया के तीन प्रकार हैं —

(1) जड़ की क्रिया,
(2) विकारी क्रिया, और
(3) धर्म की क्रिया।

www.vitragvani.com



● शरीरादि के हलन–चलन अथवा बोलने आदि की क्रिया होती है, वह जड़ की क्रिया है, उसका कारण जड़ है; उस क्रिया में आत्मा का धर्म–अधर्म नहीं है।

● आत्मा की अवस्था में जो शुभाशुभपरिणाम हैं, वह विकारी अरूपी क्रिया है; यह विकारी क्रिया अधर्म है, इसमें धर्म नहीं है।

● तीसरी क्रिया धर्म की है। शरीरादि जड़ की क्रियारहित तथा राग–द्वेषादि विकारी क्रियारहित आत्मा के चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूपी जो पवित्र क्रिया है, वह धर्म की क्रिया है और वह क्रिया मोक्ष का कारण है।

सम्यग्दृष्टि को तीर्थङ्करनामकर्म के आस्रव की कारणभूत जो सोलहकारणभावना होती है, वह भी शुभराग की क्रिया है, उसको ज्ञानी धर्म नहीं मानते।

प्रत्येक वस्तु की सच्ची क्रिया को ज्ञानी स्थापते हैं और अज्ञानी उस क्रिया को उत्थापता है। वह इस प्रकार —

**( 1 ) जड़ की क्रिया** – शरीरादि जड़ की क्रिया उसके स्वयं के कारण स्वतन्त्ररूप से होती है, आत्मा उसे नहीं करता – इस प्रकार ज्ञानी, जड़ की स्वतन्त्र क्रिया को स्थापित करते हैं और अज्ञानी कहते हैं कि जड़ की क्रिया स्वयं–स्वतः नहीं होती परन्तु आत्मा उसे करता है; अतः अज्ञानी जड़ की स्वतन्त्र क्रिया को उत्थापते हैं।

**( 2 ) विकारी क्रिया** – पुण्यभाव, धर्म की क्रिया नहीं परन्तु विकारी क्रिया है, इस प्रकार ज्ञानीजन, विकार की क्रिया को विकार की क्रिया के रूप में स्थापते है और अज्ञानी उस पुण्यभाव

www.vitragvani.com



को विकारी क्रिया के रूप में न मानकर धर्म की क्रिया के रूप में मानते हैं; अत: वे विकार की क्रिया को उत्थापते हैं।

**( 3 ) धर्म की क्रिया —** विकाररहित आत्मा के वीतरागी श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप भाव, धर्म की क्रिया है – इस प्रकार ज्ञानी धर्म की क्रिया को स्थापते हैं और अज्ञानी, देह की क्रिया में तथा पुण्य की क्रिया में धर्म मानकर, आत्मा के धर्म की स्वतन्त्र क्रिया को उत्थापते हैं।

संक्षिप्त सार यह है कि ज्ञानी, जगत के समस्त पदार्थों की क्रिया को स्वतन्त्र स्थापित करते हैं और अज्ञानी जगत के समस्त पदार्थों की क्रिया को पराधीन मानकर उनकी स्वतन्त्र क्रिया का उत्थापन करते हैं।

जिसने यह माना कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्ता है, उसने सच्ची क्रिया का स्थापन नहीं, उत्थापन किया है और एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य में कुछ भी क्रिया नहीं करता – ऐसा मानना ही प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र क्रिया का स्थापन है।

जीव अनादि से अपनी ही भूल से परिभ्रमण कर रहा है। वस्तुत: अज्ञान ही सर्वाधिक महान दोष है। अज्ञान, वह बचाव नहीं है। जैसे, लौकिक में कोई अपराध करके कहे कि मुझे कानून का पता नहीं था, तो यह बचाव काम नहीं आता है क्योंकि अज्ञान, बचाव नहीं है। इसी प्रकार आत्मस्वभाव की समझ नहीं करना और पुण्य को धर्म मान लेना अज्ञान है – अपराध है और इससे जीव, संसाररूपी जेल में परिभ्रमण करता है।

जीव को सत् सुनानेवाले नहीं मिले, इसलिए वह परिभ्रमण

www.vitragvani.com



करता है – ऐसा नहीं है परन्तु स्वयं ने आत्मा में सत् समझने की पात्रता प्रगट नहीं की तथा किसी समय सत् श्रवण का योग बना तो वहाँ रुचि नहीं की और अज्ञानभाव का सेवन चालू रखा; इसीलिए ही परिभ्रमण किया है। तीर्थयात्रा करने का भाव अथवा जिनमन्दिर बनाने का भाव भी पुण्य है, धर्म नहीं। पुण्य और पाप दोनों भाव अधर्म हैं – जिसकी ऐसी मान्यता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है; वह जैन नहीं है।

'जो यह परद्रव्य के संयोग के कारणरूप से कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द–तीव्र उदयदशा में रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है; *किन्तु अन्य कारण से नहीं। इसलिए यह मैं समस्त परद्रव्यों में मध्यस्थ होऊँ और इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ अथवा अशुभ – ऐसा जो अशुद्धोपयोग, उससे मुक्त होकर मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है – ऐसा होता हुआ, उपयोगात्मा द्वारा (उपयोगरूप निज स्वरूप से) आत्मा में ही सदा निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।*'

*(प्रवचनसार, गाथा 159 की टीका)*

देखो! परिणति, परद्रव्य का अनुसरण करे तो अशुद्धोपयोग होता है और परिणति, स्वद्रव्य का अनुसरण करे तो शुद्धोपयोग होता है। अशुद्धोपयोग, अधर्म और संसार का कारण है तथा शुद्धोपयोग, धर्म और मुक्ति का कारण है। पुण्य और पाप दोनों अशुद्धभाव परद्रव्य की आधीनता से होते हैं; इस कारण वे धर्म

www.vitragvani.com



नहीं है। आत्मा की आधीनता (स्व–सन्मुखता) से शुभ –अशुभभावों की उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता –दृष्टा है, उस स्वभाव के आधीन रहने से शुभाशुभभावों की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु शुद्धता प्रगट होती है।

अपने शुद्धस्वभाव का भान होने पर भी निचलीदशा में धर्मी की भी पूजा, भक्ति, व्रतादि शुभभाव हुए बिना नहीं रहते परन्तु वह जानता है कि यह शुभभाव मेरे स्वद्रव्यानुसार नहीं होता; अपितु परद्रव्यानुसार, अर्थात् पर का अनुसरण करके होता है; इस कारण यह मेरा स्वभाव नहीं है। वास्तव में वह धर्मीजीव, शुभराग को अपने से भिन्न परज्ञेयरूप जानता है और आत्मा की स्व–सन्मुखता की भावना करता है।

शुभराग में देव–शास्त्र–गुरु आदि पर का लक्ष्य होता है और अशुभभाव में स्त्री, पुत्र, शरीरादि पर का लक्ष्य होता है। कोई शुभाशुभभाव हो, वह पर की सन्मुखता से होता है। आत्मा की सन्मुखता से शुभाशुभभाव की उत्पत्ति नहीं होती, शुद्धभाव की ही उत्पत्ति होती है।

जब धर्मी जीव अपने स्वरूप में लीन नहीं रह पाता तो उसे भी परद्रव्यानुसार शुभ–अशुभपरिणाम होते हैं और अशुभ से बचने के लिए पूजा, भक्ति, स्वाध्याय इत्यादि के शुभभाव होते हैं। यदि शुभ–अशुभभाव होते ही न हों, तब तो वीतराग–केवली हो जाए अथवा यदि परद्रव्य की सन्मुखता के समय शुभभाव न हों तो अशुभभाव हो; क्योंकि परद्रव्य के लक्ष्य में या तो शुभ होता है या अशुभ होता है। धर्मी को निचलीदशा में अशुभ से बचानेमात्र के

www.vitragvani.com



लिए शुभभाव होता है परन्तु वह पर के अवलम्बन से होता है; उसमें धर्म नहीं है।

यदि आत्मा के स्वभाव के अवलम्बन से भी शुभाशुभभाव होते हों तो वे भाव, आत्मा का स्वभाव ही हो जाएँगे और कभी उनका अभाव भी नहीं होगा। आत्मा के स्वभाव में पुण्य–पाप नहीं है; इस कारण आत्मस्वभाव का अनुसरण करने से पुण्य–पाप की उत्पत्ति नहीं होती।

आत्माधीन परिणति से पुण्य–पाप उत्पन्न नहीं होते परन्तु वे दोनों भाव, कर्म के मन्द–तीव्र उदयदशा में रहे हुए परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होते हैं, उनमें धर्म नहीं है। आत्मा स्वद्रव्याधीन न परिणमें और परद्रव्यानुसार परिणति करे तो वह बन्ध का ही कारण है।

अज्ञानी को स्वद्रव्य–परद्रव्य की भिन्नता का भान नहीं है; अत: वह तो श्रद्धा अपेक्षा से भी परद्रव्यानुसार ही परिणमता है। धर्मी जीव को स्वाधीन आत्मतत्व की दृष्टि होने से वह श्रद्धा अपेक्षा से तो स्वद्रव्यानुसार ही परिणमता है, तथापि अभी सम्पूर्णरूप से स्वद्रव्य में स्थिरता नहीं होने से वहाँ अस्थिरता से परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होकर परिणमता है, उतनी शुभाशुभभाव की उत्पत्ति है।

यहाँ श्री आचार्यदेव ने यह सिद्धान्त दर्शाया है कि स्वद्रव्यानुसार परिणमना शुद्धता का कारण और परद्रव्यानुसार परिणमना ही अशुद्धता का कारण है। कोई कर्म अथवा कुदेवादिक परवस्तुएँ आत्मा को अशुद्धता का कारण नहीं, परन्तु उस परद्रव्य के अनुसार परिणमना

www.vitragvani.com



– यह एक ही अशुद्धता का कारण है।

'परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन' माने क्या? पहले परद्रव्यानुसार परिणति हुई और पश्चात् आत्मा उसके आधीन हुआ – ऐसा नहीं है परन्तु आत्मा, स्वद्रव्यानुसार परिणति से चूका, उसी समय परद्रव्य के अनुसार परिणति के आधीन हुआ है। परद्रव्य अनुसार परिणति होने का और उसके आधीन होने का काल पृथक् नहीं है।

यदि आत्मा स्वयं परद्रव्यानुसार परिणति करता है तो ही अशुद्धता होती है। यदि स्वद्रव्यानुसार परिणमें तो अशुद्धता नहीं होती। 'आत्मा ने पूर्व में अशुद्धभाव से जो कर्म बाँधे हैं, वे कर्म जब उदय में आवें, तब एक बार तो उनमें जुड़कर विकार करना ही पड़ता है' – ऐसा कोई अज्ञानी मानता है, परन्तु यह बात एकदम मिथ्या है; कारण कि यदि उस समय भी आत्मा, स्वद्रव्य के आधीनपने परिणमे तो उसको अशुद्धता नहीं होती और कर्मोदय का भी अभाव हो जाता है।

कोई अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'पहले समय जो राग–द्वेष हुए, दूसरे समय उनका अभाव करना।' देखो! इसमें भी पर्यायदृष्टि की सूक्ष्म भूल है। क्या पहले समय के राग–द्वेष दूसरे समय में विद्यमान है? तुझे किसका अभाव करना है? पहले समय के राग–द्वेष का दूसरे समय तो अभाव हो ही जाता है, उनका अभाव नहीं करना पड़ता। जिसकी दृष्टि राग–द्वेष के अभाव करने पर है, वह मिथ्यादृष्टि है। वस्तुतः राग–द्वेष का अभाव नहीं करना पड़ता किन्तु दूसरे समय स्वयं स्वभाव के आधीन परिणमें तो राग–द्वेष

www.vitragvani.com



की उत्पत्ति ही नहीं होती; अत: उपचार से 'राग–द्वेष का अभाव किया' – ऐसा कहा जाता है। स्वभावदृष्टि करके उसके आश्रय से परिणमने पर शुद्धता का उत्पाद होता है और अशुद्धता का उत्पाद ही नहीं होता। तात्पर्य यह है कि स्वभाव की दृष्टि प्रगट करके स्वभाव के आश्रय से परिणमना ही धर्म है।

आत्मा का स्वरूप स्वतन्त्र और शुद्ध होने पर भी अनादि से परद्रव्य के सम्बन्ध से स्वयं शुभाशुभभाव करता है; इस कारण उसे कर्मबन्धन होता है। वह शुभाशुभभाव, आत्मा को धर्म का कारण नहीं है। यदि आत्मा अपने ज्ञाता–दृष्टास्वभाव का आश्रय करे तो शुद्धोपयोग होता है, वह धर्म है।

यह आत्मा, देह से भिन्न स्वयं–सिद्ध वस्तु है। किसी ईश्वर ने इसे बनाया नहीं है। ईश्वर तो शुद्ध आत्मा है, वह किसी का कुछ नहीं करता तथा कर्ता किसी वस्तु को अत्यन्त नयी नहीं बना सकता। स्वयं–सिद्ध नित्य वस्तु का कर्ता कोई नहीं हो सकता। यदि वस्तु का कर्ता कहा तो वह वस्तु अनित्य सिद्ध होती है क्योंकि बनायी जानेवाली वस्तु अनित्य होती है; त्रिकाली वस्तु को किया नहीं जा सकता। कार्य, त्रिकाली वस्तु नहीं; बल्कि वस्तु की अवस्था है। प्रत्येक समय पदार्थ की नयी–नयी अवस्था होती है, वह पदार्थ सवयं ही उसका कर्ता है। आत्मा अनादि–अनन्त पदार्थ है और स्वयं ही अपनी शुद्ध–अशुद्ध पर्यायों का कर्ता है।

आत्मा अनादि–अनन्त ज्ञान की निधि है। उस आत्मा को पुण्य–पाप जितना मानना अज्ञान है। जो पुण्य–पापभाव होते हैं, वे अशुद्धभाव है, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा

www.vitragvani.com



तो चैतन्य शक्ति से अखण्डित प्रतापवाला है – ऐसे आत्मा का आश्रय करने से शुद्धभाव होता है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा में अशुद्धोपयोग होता है, वह वास्तव में परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही होता है; कर्म आदि निमित्त के कारण अशुद्धोपयोग कहना तो उपचारमात्र है। जड़कर्म का किसी समय तीव्र तो किसी समय मन्द उदय होता है, उस समय यदि आत्मा अपने स्वभाव का अनुसरण न करके कर्म के उदय का अनुसरण करता है तो उसे विकार होता है और यदि वह अपने स्वभाव का अनुसरण करके परिणमित हो तो विकार नहीं होता। अपनी अवस्था में स्वभाव को भूलकर अथवा स्वभाव में अस्थिर होकर परसन्मुख परिणमना अशुद्धोपयोग है।

अज्ञानी को तो स्वभाव को भूलकर अशुद्धोपयोग होता है और ज्ञानी को स्वभाव की श्रद्धा कायम रखकर अस्थिरता से अशुद्धोपयोग होता है। जहाँ अन्दर में चैतन्यद्रव्य का अवलम्बन हटा, वहाँ परद्रव्य का अवलम्बन आये बिना नहीं रहता। पुण्य–पाप के भाव, परद्रव्य के अवलम्बन से होते हैं और आत्मस्वभाव के आश्रय से धर्म होता है।

देव–शास्त्र–गुरु आदि परद्रव्य है, उनके आश्रय से आत्मा में धर्म नहीं होता; अपितु राग की उत्पत्ति होती है। परद्रव्य के आश्रय से होनेवाले राग के अवलम्बन से भी धर्म की उत्पत्ति नहीं होती तथा आत्मा की वर्तमान दशा का अवलम्बन करके अटकने से भी विकार की ही उत्पत्ति होती है। यदि आत्मा के अखण्ड ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर, उसका अवलम्बन करे तो उसके आश्रय से ही

www.vitragvani.com



सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मलदशा प्रगट होती है, वह मुक्ति का कारण है।

आत्मा के अन्तर स्वभाव के अवलम्बन के अतिरिक्त अन्य किसी का भी अवलम्बन लेना परद्रव्यानुसार परिणति है और उससे शुभ–अशुभभाव की उत्पत्ति होती है, जो कि बन्धन का कारण है। अहो! स्वद्रव्यानुसार परिणति, वह धर्म और परद्रव्यानुसार परिणति, वह विकार – ऐसा समझने पर स्व–पर का भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता और वह जीव, परद्रव्यानुसार परिणति को छोड़कर स्वद्रव्य–सन्मुख हुए बिना नहीं रहता।

आत्मा, देह–मन–वाणी की क्रिया को तो व्यवहार से भी नहीं कर सकता क्योंकि वे तो आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं। पर के अवलम्बन से होनेवाले पुण्य–पापभावों का कर्ता व्यवहार से आत्मा है, परमार्थ स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा उन पुण्य–पापभावों का कर्ता भी नहीं है।

कर्म, आत्मा को विकार नहीं कराते परन्तु आत्मा की परद्रव्यानुसार परिणति ही अशुद्ध उपयोग का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। आत्मा का स्वभाव, अशुद्ध उपयोग का कारण नहीं है तथा कर्म का उदय आदि अन्य कारण भी अशुद्ध उपयोग के कारण नहीं है। कर्म तो आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है। परद्रव्यानुसार परिणति–यह एक ही अशुद्धता का कारण है और स्वद्रव्यानुसार परिणति – यह एक ही शुद्धता का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है – ऐसा अस्ति–नास्ति अनेकान्त है। परद्रव्य को आत्मा के विकार करानेवाला मानना, वह एकान्त है।

www.vitragvani.com



जीव ने अनन्त काल में आत्मस्वभाव की यथार्थ समझ के बिना व्रतादि किये हैं परन्तु इससे आत्मा को धर्म का किञ्चित् भी लाभ नहीं हुआ है; उल्टे उस व्रत के राग में धर्म मानकर जीव ने अनन्त संसार में परिभ्रमण किया है। आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण –त्याग का कार्य नहीं कर सकता, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है तथा राग –द्वेष होते हैं, उनका करने–छोड़नेवाला भी आत्मा व्यवहार से है; वस्तुतः धर्मी तो उसका ज्ञाता ही है। 'राग को छोड़ूँ' – ऐसी दृष्टि से राग नहीं छूटता, अपितु स्वभाव के आश्रय में रहने से राग–द्वेष होते ही नहीं; इसी को व्यवहार से कहा है कि 'राग–द्वेष को छोड़ा।'

राग–द्वेषरूप अशुद्धोपयोग, परद्रव्य के आश्रय से ही होता है, मेरे स्वभाव के आश्रय से अशुद्धता नहीं होती; इस कारण मैं अशुद्धोपयोग के अभाव के लिए समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होता हूँ, अर्थात् समस्त परद्रव्यों का लक्ष्य छोड़कर आत्मस्वभाव का आश्रय करता हूँ। समस्त परद्रव्य मुझसे भिन्न है; इसलिए मैं उनके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ। वस्तुतः परद्रव्यों के सन्मुख देखकर उनके प्रति मध्यस्थ नहीं होना है, परन्तु स्वद्रव्य में लीन रहने पर समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थता हो जाती है। स्वद्रव्य में लीन रहना अस्ति है और परद्रव्य के प्रति मध्यस्थता होना नास्ति है।

'मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होता हूँ' – ऐसा कहा, वहाँ समस्त परद्रव्यों में क्या शेष रह गया? अहो! देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्वों का ज्ञान और पञ्च महाव्रतरूप व्यवहाररत्नत्रय का आश्रय भी यहाँ निकाल दिया है। व्यवहाररत्नत्रय भी परद्रव्य

www.vitragvani.com



के अवलम्बन से है, इसलिए मैं उसके प्रति भी मध्यस्थ हूँ, अर्थात् उस व्यवहाररत्नत्रय का अवलम्बन छोड़कर अभेद आत्मा का ही आश्रय करता हूँ।

शास्त्र में व्यवहाररत्नत्रय को निश्चयरत्नत्रय का कारण कहा हो तो यह बात उपचार की है; यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय को हेय कहकर, उसका आश्रय छुड़ाया है क्योंकि वस्तुतः व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय का कारण नहीं है। निश्चयरत्नत्रय का कारण तो स्वद्रव्यानुसार परिणति ही है, कारण कि व्यवहाररत्नत्रय तो शुभोपयोगरूप है, जबकि निश्चयरत्नत्रय, शुद्धोपयोगरूप है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध उपयोग को सिद्ध करने के लिए मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर ज्ञानस्वरूप निज आत्मा को ध्याता हूँ। देखो! यही ज्ञानी का कार्य है और यही ज्ञानी का अभ्यास है। ज्ञानी, पञ्च महाव्रतादि के शुभराग में रहने का अभ्यास नहीं करते, किन्तु शुद्धोपयोग में रहने का अभ्यास करते हैं। अज्ञानी जीव, परद्रव्यों में राग–द्वेष करके अशुद्धतारूप ही होता है, इसके अतिरिक्त परद्रव्य का तो वह भी कुछ नहीं कर सकता।

अज्ञानी को स्व–पर की भिन्नता का भान भी नहीं है; अतः उसे तो सदा ही परद्रव्यानुसार परिणति से अशुद्धोपयोग ही होता है। ज्ञानी, स्व–पर की भिन्नता का भान करके स्वद्रव्यानुसार परिणति से शुद्धोपयोग में ही रहने की भावना करता है।

हे भाई! चारित्रदशा के पहले वस्तु की सच्ची श्रद्धा और ज्ञान तो कर! सच्चे श्रद्धा–ज्ञान के बिना व्रत, तप और चारित्र समस्त ही

www.vitragvani.com



'रण में पीठ दिखाने' के समान है, उनसे आत्मा का भव भ्रमण नहीं मिटता। 'मेरे द्रव्यस्वभाव में मैं शान्ति का सागर हूँ, मेरी सिद्धदशा मेरे में पड़ी है – ऐसे निजद्रव्य को मैं ध्याता हूँ और अपने से भिन्न समस्त परद्रव्यों में मैं मध्यस्थ होता हूँ' – ऐसी दशा, मोक्ष का कारण है। ऐसी दशा प्रगट होने के पूर्व श्रद्धा–ज्ञान प्रगट करना भी सम्यग्दर्शन–ज्ञानरूप धर्म है।

परद्रव्यानुसार होनेवाले शुभाशुभभावों में आत्मा का धर्म नहीं है। स्वद्रव्य के अनुसरण से ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होते हैं – वही धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मसन्मुखता से अपनी निर्मल अवस्था में ही होता है, इसके अतिरिक्त किसी पर की सन्मुखता से अथवा कहीं पर्वत पर, गुफा में, मूर्ति में या देहादिक की क्रिया में आत्मा का धर्म नहीं है। इस प्रकार जाननेवाला धर्मात्मा, स्वसन्मुख शुद्धोपयोग की ही भावना करता है कि मैं आत्मा, अपने अतिरिक्त समस्त परद्रव्यों में राग–द्वेषरहित मध्यस्थ होकर, अर्थात् अशुद्धोपयोगरहित होकर, निज शुद्धात्मा के स्वरूप को ही निश्चलरूप से ध्याता हूँ। ऐसी दशा प्रगट होना साक्षात् धर्म है और वही मुक्ति का कारण है। अभी जिसे इस दशा का भान भी नहीं है और पुण्य से, राग से अथवा जड़ की क्रिया से धर्म मानता है, वह तो धर्म से बहुत दूर,अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

अपने आत्मस्वरूप की भ्रान्ति सबसे बड़ा पाप है और वही जन्म–मरण का भयङ्कर भावरोग है। यहाँ उस मिथ्याभ्रान्ति का अभाव कैसे हो – यह बात चलती है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी कहते हैं कि —

www.vitragvani.com



**आत्माभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान;**
**गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार–ध्यान॥**

'गुरु आज्ञा' अर्थात् श्रीगुरु ने जैसा आत्मस्वरूप कहा, वैसा समझना तथा उसका विचार और ध्यान करना ही भवरोग मिटाने का उपाय है। सर्व प्रथम शुभाशुभरहित चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव का भान करना ही आत्मभ्रान्ति से छूटने का उपाय है।

मैं अनादि–अनन्त पवित्र गुणों का सागर हूँ। जितने गुण सिद्ध भगवान की आत्मा में है, उतने ही गुण मेरे में हैं। सिद्ध भगवान जैसी ही मेरी प्रभुता मुझमें भरी है; इस प्रकार अपनी प्रभुता का विश्वास करे तो उसमें स्थिरता का अभ्यास करे, परन्तु जीव को अनादि से अपनी प्रभुता का विश्वास नहीं आता। अज्ञानी जीव, कस्तूरी मृग की तरह अपनी परमात्मशक्ति को भूलकर बाहर में भ्रमता है; इस कारण स्वद्रव्य का आश्रय चूककर परद्रव्यानुसार परिणमता है – यह अशुद्धोपयोग है। सच्चा भान होने के पश्चात् परलक्ष्य से जो शुभाशुभ परिणति होती है, वह भी अशुद्धोपयोग में आती है और स्वभाव की प्रभुता को पहिचानकर उसमें लीन रहने से शुभाशुभ परिणति नहीं होती, वह शुद्धोपयोग है।

ज्ञानी–मुनि कहते हैं कि स्वद्रव्य सन्मुखता से शुद्धोपयोग होता है और परद्रव्य सन्मुखता से अशुद्धोपयोग होता है; इसलिए स्व–पर द्रव्यों को भिन्न जानकर, मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होता हूँ; इस प्रकार मध्यस्थ होकर मैं परद्रव्यानुसार परिणति से होनेवाले अशुद्धोपयोग से मुक्त होता हूँ और केवल स्वद्रव्यानुसार परिणति के ग्रहण से शुद्धोपयोगरूप परिणमता हूँ।

www.vitragvani.com



यहाँ ज्ञानप्रधान कथन होने से अशुद्धोपयोग के छोड़ने की बात की है। वस्तुतः मैं 'अशुद्धोपयोग को छोड़ूँ' — ऐसे लक्ष्य से वह नहीं छूटता परन्तु स्वद्रव्य को लक्ष्य में लेकर उसके ध्यान में स्थिर हुआ, वहाँ अशुद्धोपयोग हुआ ही नहीं; इसीलिए 'अशुद्धोपयोग को छोड़ा' – ऐसा कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी ऐसे शुद्धोपयोग की ही भावना है। बीच में प्रतिमा या महाव्रतादि का शुभराग आये, उसकी भावना नहीं है और न वह उसमें धर्म मानता है। शुभ–अशुभ उपयोग तो परद्रव्य के संयोग का, अर्थात् संसार का कारण है और शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण है। शुद्धोपयोग कहने से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों आ जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मैं शुद्धोपयोग प्रगट करके सदा आत्मा में निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ। यद्यपि इस टीका लिखने के काल में उनको शुभविकल्प वर्तता है परन्तु अन्तर स्वभाव के आदर में उस विकल्प का निषेध वर्तता है। उनकी भावना इस विकल्प के आश्रय में अटकने की न होकर, शुद्धात्मा के पूर्ण आश्रय की ही है; इस कारण वे कहते हैं कि मैं शुद्ध उपयोग प्रगट करके सदा आत्मा में ही निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ — यह मेरा शुद्धोपयोग का अभ्यास है।

सर्व प्रथम सत्समागमपूर्वक आत्मा की सच्ची समझ करना शुद्धोपयोग का कारण है। जीव ने अनन्त काल में अन्य सब तो किया है; परन्तु कभी भी आत्मा की सच्ची समझ नहीं की है। आत्मा की सच्ची समझ अपूर्व हे। यदि जीव एक समय भी आत्मा को पहिचाने तो मुक्तिपथ का पथिक हुए बिना नहीं रहे। ●●

www.vitragvani.com



जन्मकल्याणक प्रवचन 1

# धर्मी जीव की भावना

यह तो भगवान की प्रतिष्ठा का महोत्सव चल रहा है। भगवान ने जैसा कहा, वैसी आत्मा की महिमा और पहिचान ही सच्चा महोत्सव है।

वसुबिन्दु–प्रतिष्ठापाठ में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करानेवाले श्रावक का वर्णन आता है। वह श्रावक, श्रीगुरु के समीप जाकर आज्ञा माँगता है कि हे स्वामी! मैं इस धनादि लक्ष्मी को कुलटा स्त्री के समान व अनित्य जानता हूँ। मैं इस लक्ष्मी का अनुराग घटाकर इसका सदुपयोग करूँ – ऐसा कोई कार्य बताओ। मेरी भावना श्री अरिहन्त भगवान का पञ्च कल्याणक कराने की है।

तब श्रीगुरु कहते हैं कि हे भव्य! धन्य है, तू अपने कुल में सूर्य समान है। ऐसा कहकर वे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा और पञ्च कल्याणक महोत्सव की आज्ञा प्रदान करते हैं।

यह महोत्सव अनन्त भवों का नाशक है। यहाँ बाह्यक्रिया अथवा मात्र शुभराग की बात नहीं है, परन्तु अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव के भानपूर्वक उसमें लीन होकर तृष्णा घटाने से अनन्त

www.vitragvani.com



अवतार का नाश हो जाता है। परमार्थ से तो आत्मस्वभाव की जो अनन्त ज्ञानमय सम्पत्ति है, उसे प्रगट करके राग का अभाव करना ही महोत्सव है। महोत्सव करनेवाला अपने राग को घटाने के लिए अपनी सम्पत्ति का व्यय करता है। वस्तुतः आत्मा सम्पत्ति का व्यय नहीं कर सकता, परन्तु राग घटाने के उपदेश के लिए व्यवहार से सम्पत्ति के व्यय की बात कही गयी है।

आचार्यदेव प्रतिष्ठा करानेवाले गृहस्थ से कहते हैं कि हे भाग्यवान! तेरा अवतार सफल है कि तेरे घर ऐसा महान अवसर आया है। स्वर्ग–मोक्ष के कारणरूप तेरा सफल अवतार है, तेरे महाभाग्य है। मात्र लक्ष्मी खर्च करके हो–हल्ला कर दे अथवा मान–प्रतिष्ठा के लिए धन खर्च करे – ऐसे जीव की बात यहाँ नहीं है, परन्तु जिसे अन्तर में रागरहित आत्मस्वभाव का बहुमान है और जड़ लक्ष्मी मेरी वस्तु नहीं है – ऐसा जानकर जिसे उसका अभिमान मिट गया है, वह जीव लक्ष्मी के प्रति राग घटाने हेतु तत्पर हुआ है, उसकी बात है। अन्तर में रागरहित ज्ञायकस्वभाव का भान हो तो कल्याण है। जड़ की क्रिया का स्वामी न हो तथा शुभराग को धर्म न माने; इस प्रकार जहाँ–जहाँ जो–जो योग्य हो, वहाँ वह–वह समझे और रागरहित स्वभाव की दृष्टि रखकर राग घटाने के स्थान पर राग घटाये।

देखो, अन्तर में आत्मा के भान बिना राग घटाने की परमार्थ मार्ग में कोई कीमत नहीं है। राग घटाने का निषेध नहीं है, परन्तु आत्मा का भान होना चाहिए कि आत्मा, पैसे अथवा मन्दिरादि जड़ की क्रिया को नहीं कर सकता, और जो शुभराग होता है,

www.vitragvani.com



उससे भी मुझे लाभ नहीं है। स्वभाव के भानसहित जितना राग मिटा, उतना लाभ है। इस प्रकार पहले आत्मा की सच्ची समझ का मूल आधार रखकर फिर सब बात है। कोई जीव सच्ची समझ के बिना राग को मन्द करे तो उसकी ज्ञानी ना नहीं कहते, परन्तु उससे आत्मा का अपूर्व कल्याण नहीं होता और अनन्त जन्म–मरण का अभाव नहीं होता।

आत्मा स्वयं देह–मन–वाणी नहीं है तथा देह–मन–वाणी की क्रिया का कर्ता भी आत्मा नहीं है। कोई कहे कि 'निश्चय से तो ऐसा है कि आत्मा, पर का कुछ नहीं कर सकता परन्तु व्यवहार से तो आत्मा पर का कर्ता है न?' तो यह बात भी मिथ्या है। आत्मा निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी प्रकार से पर का कर्ता तो है ही नहीं। 'निश्चय से नहीं करता और व्यवहार से कर्ता है' – ऐसा दो प्रकार का कथन है परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा दो प्रकार का नहीं है। निश्चय की बात को लक्ष्य में रखकर व्यवहार का अर्थ समझना चाहिए। आत्मा शरीरादि की कोई क्रिया नहीं कर सकता – ऐसा ही वस्तु स्वरूप है – यही निश्चय है और 'आत्मा शरीरादि का कर्ता है' – ऐसा कथन व्यवहारनय से शास्त्र में होता है, वह मात्र निमित्त का कथन है, वस्तुस्वरूप नहीं। शरीरादि की क्रिया होने के काल में कैसा निमित्त था, उसका ज्ञान कराने के लिए यह व्यवहार का कथन है।

भगवान के गंधोदक का पानी लेकर मस्तक पर चढ़ावे और कहे कि हे भगवान! आप संसार से तिरे हो और मुझे भी तारो – तो क्या भगवान किसी को तारते होंगे? अथवा गंधोदक का पानी

www.vitragvani.com



किसी को तारता होगा ? यह तो मात्र भगवान के प्रति विनय की भाषा है। आत्मा के अन्तर का पानी (पुरुषार्थ) उछले बिना मुक्ति नहीं हो सकती। बाहर की क्रिया से आत्मा के अन्तर पुरुषार्थ की पहिचान नहीं हो सकती। जैसे, जवेरी ही हीरे के पानी का माप कर सकता है, परन्तु अनपढ़ किसान उसे नहीं पहिचान सकता; उसी प्रकार धर्मी जीव के अन्तर के पुरुषार्थ की पहिचान आहारादि की बाह्य क्रिया से नहीं हो सकती। अमुक प्रकार का आहार करे और अमुक प्रकार का त्याग ले – ऐसी बाहर की क्रिया से धर्मी जीव के धर्म का माप नहीं हो सकता, किन्तु अन्तर में आत्मस्वभाव की श्रद्धा और एकाग्रता करके कितना राग छूटा, इससे धर्मी का माप होता है।

अज्ञानी कहता है कि 'तुम मानते हो कि आत्मा में अनन्त शक्ति है और आत्मा स्वतन्त्र है तो छह महीने के उपवास कर दो न ?' परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई ! आत्मा की शक्ति का माप बाहर की क्रिया से नहीं है; कौन आहार ले और कौन आहार छोड़े ? चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा है, वह जड़ आहार के ग्रहण–त्याग की क्रिया नहीं कर सकता।

धर्म अर्थात् क्या ? और धर्मी किसे कहना ? लोग कहते हैं कि हमें धर्म करना है, तो धर्म कहाँ से होगा ? यह बात चलती है। धर्म, शरीर में से नहीं होता, वाणी में से नहीं होता तथा धनादिक से भी धर्म नहीं होता क्योंकि ये सब तो आत्मा से भिन्न अचेतन है, इनमें आत्मा का धर्म विद्यमान नहीं है तथा हिंसा, चोरी आदि पापभाव अथवा दया, पूजादि पुण्यभाव से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि ये

www.vitragvani.com



विकारीभाव हैं। धर्म करनेवाला आत्मा है और धर्म, आत्मा की दशा में ही होता है। वह धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है।

आत्मा की शुद्धदशा ही धर्म है। उस धर्म को करनेवाला आत्मा स्वयं ही है। धर्म करनेवाले आत्मा से ही धर्म होता है, किन्तु पैसे से, शरीर से, प्रतिमा से, अथवा देव-शास्त्र-गुरु से धर्म नहीं होता तथा उस तरफ के शुभराग से भी धर्म नहीं होता। धर्म, आत्मा की निर्मल वीतरागी शुद्धपर्याय है। वह पर्याय, पर्यायी आत्मा में से प्रगट होती है। आत्मा त्रिकाल ज्ञानादि निर्मल गुणों की खान है। श्रवण-मनन द्वारा उसकी पहिचान करने पर आत्मा में से जो निर्मल अंश प्रगट होता है, वह अंशी का अंश, धर्म है। भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति अनादि-अनन्त एकरूप है, वह अंशी है और उसके आश्रय से जो निर्मल अंश प्रगट होता है, वह अंश है। उस एक अंश में सम्पूर्ण आत्मा आ नहीं जाता।

यह जगत अपने आत्मा का स्वरूप समझे बिना बाहर की क्रिया में हो-हल्ला करता है, उसमें धर्म नहीं है। बाह्य जड़ की क्रिया से तो आत्मा को पुण्य-पाप भी नहीं होता है। यदि राग और लोभादि कषाय को मन्द करे तो पुण्य होता है और तीव्र कषाय होवे तो पाप होता है। बाहर की क्रिया तो आत्मा करता ही नहीं, वह तो जड़ के कारण स्वयं-स्वत: होती है। आत्मा से जड़ की क्रिया तो भिन्न है ही, राग-द्वेष की विकारी क्रिया भी भिन्न है। त्रिकाली शुद्धात्मा इन दोनों से भिन्न है। उस आत्मा की पहिचान से प्रगट होनेवाला रागरहित शुद्ध अंश, धर्म है। धर्म की यह क्रिया आत्मा के आश्रय से ही होती है।

www.vitragvani.com



आत्मा की महिमा के परिज्ञान बिना, सच्चे देव–शास्त्र–गुरु की महिमा करने से भी मुक्ति नहीं होती। आत्मा की महिमा को विस्मृत करके पर की महिमा में अटकनेवाले को धर्म नहीं होता।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव छठवें–सातवें गुणस्थान की आत्मा की चारित्रदशा में झूल रहे हैं। वे क्षण में विकल्प तोड़कर आत्मा के अनुभव में स्थिर हो जाते हैं और सिद्ध भगवान सदृश अतीन्द्रिय आनन्द को भोगते हैं। दूसरे क्षण पुनः छठवें गुणस्थान में आने पर शुभविकल्प उत्पन्न होता है। उनको ऐसी दशा में 'जगत के जीव धर्म प्राप्त करें' – ऐसा शुभविकल्प उत्पन्न हुआ, और जगत के भाग्य से इन समयसार, प्रवचनसारादि ग्रन्थों की रचना हो गयी। उन ग्रन्थों में वर्णित आत्मा का क्या स्वरूप है – यह बात यहाँ चलती है।

आत्मा ज्ञायकमूर्ति है। जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वह अशुद्धता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा की अवस्था में उत्पन्न शुभाशुभ वृत्तियाँ, परद्रव्य के अनुसरण से प्रगट होती हैं, आत्मस्वभाव का अनुसरण करने पर अशुद्धता नहीं होती। अशुद्धता का कारण परद्रव्यानुसार होती परिणति ही है और शुद्धता का कारण स्वद्रव्यानुसार होती परिणति ही है। दया, दान, पूजा, भक्ति, त्याग इत्यादि जितने व्यवहारधर्म–क्रिया के परिणाम हैं, वे समस्त ही परद्रव्यानुसारी अशुद्धभाव है, उनके द्वारा धर्म नहीं होता। इसलिए अन्तरदृष्टि द्वारा आत्मस्वरूप के निरीक्षण (अनुभव) को भगवान, सम्यग्दर्शनरूपी धर्म कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन, वीतरागचारित्र का मूल कारण है और वीतरागचारित्र, मोक्ष का कारण है।

www.vitragvani.com



परद्रव्य के लक्ष्य से अशुद्धोपयोग होता है और उस अशुद्ध उपयोग के फल में भी परद्रव्य का ही संयोग होता है, उसके द्वारा स्वभाव की एकता नहीं होती। शुद्ध उपयोग में परद्रव्य का लक्ष्य नहीं होता और उस शुद्ध उपयोग से परद्रव्य का संयोग भी नहीं होता, क्योंकि वह तो आत्मा का स्वभाव है। जिसमें से अनन्त सिद्ध पर्यायें प्रगट हों – ऐसा चैतन्य भण्डार मैं हूँ। मेरी चैतन्यखान में से शुभ-अशुभभाव प्रगट नहीं होते – ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव, परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर शुद्धोपयोग का अभ्यास करता है।

वह धर्मी जीव, अविनाशी मोक्षसुख के कारणरूप शुद्धोपयोग की भावना करता है। यहाँ शुद्धोपयोग की भावना रागरूप नहीं, किन्तु समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर आत्मस्वभाव का आश्रय करना ही शुद्धोपयोग की भावना है। धर्मी जीव, परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर स्वभाव का आश्रय किस प्रकार करता है? – यह बात प्रवचनसार की 160 वीं गाथा में कहते हैं कि –

**णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।**
**कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥**

**अर्थात्** मैं देह नहीं, मन नहीं तथा वाणी नहीं; उनका कारण नहीं, कर्ता नहीं, कारयिता (करानेवाला) नहीं, कर्ता का अनुमोदक नहीं।

जैसे, अङ्क और अक्षर को जाने बिना नामा (हिसाब) नहीं लिखा जा सकता; उसी प्रकार आत्मा के अङ्क और अक्षर, अर्थात् आत्मा का चैतन्य चिह्न और आत्मा के अविनाशी स्वभाव को जाने बिना धर्म का नामा नहीं हो सकता। भाई! यह तो जन्म-मरण की

www.vitragvani.com



बेड़ी तोड़ने की बात है। इसे समझे बिना जन्म-मरण का अन्त किसी भी प्रकार नहीं आ सकता। इसे समझे बिना भगवान की मणि-रत्नों की प्रतिमा बनावे और हीरों के थाल में कल्पवृक्षों के फल से पूजा करे, तो भी वह शुभराग है। आत्मा का स्वभाव राग रहित है, उसे समझे बिना संसार के जन्म-मरण का अभाव नहीं होता। शुभराग, धर्म का पन्थ नहीं है। आत्मा की पहिचान करके उसका आश्रय करना ही एकमात्र धर्म का पन्थ है। अनन्त ज्ञानियों का यह एक ही पन्थ है। कहा भी है कि —

**'एक होय तीन काल में, परमारथ का पंथ'**

**अर्थात्** मोक्ष का मार्ग तीनों काल एक ही प्रकार का है।

धर्मी जीव का चिह्न क्या है ? धर्मी जीव के अन्तर में कैसा भान होता है ? – उसकी यह बात है। धर्मी जानता है कि मैं ज्ञाता आत्मा हूँ और शरीरादि समस्त परद्रव्य, ज्ञेय हैं। मेरे ज्ञानस्वरूप से शरीरादि ज्ञेय पदार्थ भिन्न हैं, अर्थात् मैं शरीर नहीं, मन नहीं, तथा वाणी भी मैं नहीं हूँ; इस कारण उन शरीर-मन-वाणी से मेरा धर्म नहीं होता है।

अब, धर्म किस से धर्म करना ? आत्मा शरीर-मन-वाणी से पार, ज्ञान-दर्शन का पिण्ड है, उसी से धर्म की स्फुरणा होती है। आत्मा ज्ञानमूर्ति है और शरीर-मन-वाणी, परज्ञेय है; आत्मा उनका जाननेवाला है परन्तु आत्मा उनका कुछ भी नहीं कर सकता। शरीर से–मन से अथवा वाणी से आत्मा का धर्म नहीं होता। यह शरीर और भाषा तो परवस्तु है और अन्तर हृदय स्थान में एक सूक्ष्म मन है, वह जड़ पुद्गलों से रचित है, वह मन भी परवस्तु है।

www.vitragvani.com



आत्मा का जितना उस मन की तरफ जुड़ान होता हैं, उतना विकार होता है, वह विकार भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। मन परद्रव्य है, उस मन के अवलम्बन से भी आत्मा का धर्म नहीं होता। आत्मा का दर्शन–ज्ञानस्वभाव मनातीत और विकल्पातीत है, उसे पहिचानकर उसमें एकाग्र होने पर जितने अंश मन से पृथक् हो, उतने अंश धर्म है; इस भाव के बिना तीन काल में भी धर्म नहीं होता। आज समझो, कल समझो अथवा दो–पाँच भव बाद समझो, परन्तु यह समझे बिना कभी भी भव का किनारा आनेवाला नहीं है।

पर से भिन्नपना जाने बिना पर के प्रति न तो मध्यस्थता होती है और न स्वरूप में एकाग्रता होती है। धर्मी जीव, आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानकर उनके प्रति मध्यस्थ होता है और अपने स्वभाव में स्थिर होता है। धर्मी जीव जानता है कि मैं न तो वाणी हूँ और न वाणी से मेरा धर्म होता है। आत्मा, वाणी का कर्ता नहीं है और वाणी से आत्मा समझ में भी नहीं आता है।

मैं शरीर–मन–वाणी नहीं हूँ – इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर–मन–वाणी की क्रिया आत्मा के द्वारा नहीं होती। व्यवहार से भी आत्मा उनका कुछ करे – ऐसा नहीं है। भाषा में ऐसा आता है कि 'आत्मा ने शरीरादिक का किया' परन्तु वस्तुस्वरूप इससे भिन्न है। आत्मा से दूर स्थित देव–शास्त्र–गुरु और समीपवर्ती शरीर–मन–वाणी – ये सब मुझसे पृथक् हैं। मैं जाननेवाला हूँ और ये सब मेरे ज्ञेय हैं। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय को भिन्न–भिन्न पहिचानकर अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना ही धर्म है।

www.vitragvani.com



यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा, शरीर–मन–वाणी का कारण नहीं है; शरीर–मन–वाणी तो जड़ पुद्गल की रचना है। धर्मी जीव अपने को उनका कारण नहीं मानता तथा जिस भाव से शरीर–मन–वाणी का संयोग होता है, उस भाव का कारण भी धर्मी जीव अपने को नहीं मानता। स्वभावदृष्टि से आत्मा, विकार का कारण है ही नहीं और निमित्तरूप से भी आत्मा, शरीर–मन–वाणी का कारण नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि बाहर का व्यवहार तो करना पड़ता है न? परन्तु भाई! आत्मा पर में क्या करे? क्या तुझे जड़ की क्रिया में आत्मा का व्यवहार मनवाना है? निश्चय आत्मा में और व्यवहार बाहर में – ऐसा नहीं है। आत्मा का व्यवहार, आत्मा से बाहर नहीं होता, अर्थात् बाहर की – शरीर–मन–वाणी की क्रिया तो आत्मा व्यवहार से भी नहीं करता। ज्यादा से ज्यादा आत्मा, पर्याय में उस तरफ का राग करता है, उसे जानना व्यवहार है। त्रिकाली स्वभाव में राग नहीं है और पर्याय में यह क्षणिक राग होता है; इस प्रकार उस राग को जानना असद्भूत व्यवहार है और त्रिकाली रागरहित स्वभाव को जानना निश्चय है। निश्चय को जाने बिना व्यवहार का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। त्रिकाली स्वभाव, रागरहित है। जो उसे नहीं जानता और क्षणिक राग को ही अपना स्वरूप मान लेता है, उसे तो व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं है।

आत्मा में से भाषा उत्पन्न नहीं होती तथा आत्मा कारणरूप होकर भी भाषा को उत्पन्न नहीं करता। आत्मा की इच्छा के कारण भाषा नहीं होती, परन्तु जड़ पुद्गल (भाषावर्गणा) स्वयं भाषारूप

www.vitragvani.com



परिणमते हैं। केवली भगवान के इच्छा नहीं होने पर भी वाणी होती है और बहुत से जीवों के इच्छा होने पर भी इच्छानुसार वाणी नहीं निकलती, क्योंकि आत्मा के कारण वाणी नहीं होती; बल्कि जड़ के कारण होती है। इस प्रकार मैं जड़ से भिन्न हूँ – ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

धर्मी जीव, भेदज्ञान के द्वारा ऐसा जानता है कि मैं देह-मन -वाणी नहीं हूँ, उनका कारण मैं नहीं हूँ, उनका कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और उनकी क्रिया स्वयं होती हो, उसका मैं अनुमोदक भी नहीं हूँ।

शास्त्र के ऐसे स्पष्ट कथन आते हैं, वहाँ अज्ञानी जीव कहता है कि 'यह तो निश्चय की बात है, निश्चय से आत्मा, शरीरादिक का नहीं कर सकता परन्तु व्यवहार से तो कर सकता है।' निश्चय क्या है और व्यवहार क्या है ? – इसका अज्ञानी को पता नहीं है; इस कारण वह ऐसा मानता है कि आत्मा व्यवहार से बोलता है और शरीर को चलाता है। 'निश्चय से नहीं करता और व्यवहार से करता है' – ऐसा अज्ञानी मानता है; अत: उसके अभिप्राय में कभी भी दोनों नयों के विरोध का परिहार नहीं होता और उसे दोनों नयों के परिहारपूर्वक स्वभाव में स्थिरता का अवसर नहीं आता, अर्थात् उसके अधर्म का अभाव होकर धर्म प्रगट नहीं होता।

निश्चय और व्यवहार के परस्पर विरोध है। वह विरोध कैसे मिटे? निश्चय जो कहता है, वह वस्तुस्वरूप है और व्यवहार कथन के अनुसार वस्तुस्वरूप नहीं है, किन्तु वह उपचार कथन है – ऐसा समझने से दोनों नयों के विरोध का परिहार होता है;

www.vitragvani.com



परन्तु नयों के कथन की अपेक्षा समझे बिना दोनों को सत्य मान लें कि यह भी सत्य है और यह भी सत्य है, तो उसके दोनों नयों का विरोध कभी नहीं मिटता, अर्थात् उसके मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता।

निश्चय कहता है कि आत्मा, शरीरादिक का कुछ करता ही नहीं है – यह तो यथार्थ वस्तुस्वरूप ही है; और व्यवहार कहता है कि आत्मा, शरीरादि की क्रिया करता है – यह यथार्थ वस्तुस्वरूप नहीं, किन्तु उपचार कथन है। इसका अर्थ यह है कि वस्तुतः आत्मा, शरीरादिक का कुछ नहीं करता।

देखो! यह तत्व समझे बिना बाहर की धूमधाम से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है। लोगों को बाह्य प्रदर्शन दिखता है, परन्तु अन्तर में चैतन्य हीरा अनन्त गुणों का भण्डार केवलज्ञान का कन्द आत्मा है, उसे वे नहीं देखते। भगवान! तेरी महिमा अपार है। तू अपनी महिमा को भूलकर अनादि से बाहर के पदार्थों की महिमा करके परिभ्रमण कर रहा है। अब तू अपनी आत्मा की महिमा को पहिचानकर, उसकी श्रद्धा कर तो इस जन्म-मरणरूप परिभ्रमण का अभाव होगा। अरे! भगवान की वाणी से भी तेरी महिमा का पार नहीं पड़ता। श्रीमद् राजचन्दजी कहते हैं कि —

**जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,**
**कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब**
**उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे?**
**अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब॥ अपूर्व॥**

अपने अन्तर में ज्ञान द्वारा अनुभवगोचर हो – ऐसा आत्मा है

www.vitragvani.com



परन्तु वह अनुभव वाणी से नहीं कहा जा सकता और न वाणी द्वारा आत्मा समझा जा सकता है। शास्त्र कहते हैं कि बारह अङ्ग द्वारा भी मात्र स्थूल तत्त्व की बातें आयी है; सूक्ष्म तत्त्व तो केवली भगवान और ज्ञानियों के अन्तर में रह गया है। भगवान की वाणी में से गणधरदेव ने जितना झेला, उसका अनन्तवाँ भाग शास्त्र में रचित है और उसमें भी स्थूल कथन हैं। जैसे, ताजा घी का स्वाद चखने में आता है, परन्तु वाणी के द्वारा उसका सम्पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता। इसी प्रकार चैतन्य का परिपूर्ण स्वरूप ज्ञान में ज्ञात होता है, परन्तु वाणी में उसका सम्पूर्ण वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वाणी, आत्मा के स्वभाव से अन्य है।

जैसे, कोई महान बेरिस्टर घी चखे और दो वर्ष का बालक भी घी चखे, वहाँ उन दोनों को घी के स्वाद का ज्ञान तो एक समान है परन्तु उनमें से कोई भी वाणी के द्वारा सम्पूर्ण स्वाद को कहने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द आत्मस्वभाव का ज्ञान करने में केवली भगवान पूरे है, अर्थात् बेरिस्टर के समान हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि के मति-श्रुतज्ञान है, वे बालक जैसे हैं परन्तु दोनों के ज्ञान की जाति एक है, दोनों को आत्मा के अनुभव का स्वाद एक जाति का है, परन्तु दोनों में कोई भी वाणी के द्वारा आत्मा का वर्णन करने में समर्थ नहीं है।

ज्ञायकमूर्ति आत्मा, देह-मन-वाणी का कर्ता तो नहीं है, परन्तु देह-मन-वाणी की जो क्रिया स्वयं-स्वत: होती हो, उसका प्रेरक भी आत्मा नहीं है। आत्मा बोलने की इच्छा करे, वह इच्छा विकार है, उस इच्छा के कारण भी भाषा नहीं होती। शरीर पुद्गल की

www.vitragvani.com



आहारवर्गणा में से होता है और भाषा तो भाषावर्गणा में से होती है; इसलिए शरीर के इस मुँह अथवा गले से भी भाषा नहीं होती, क्योंकि भाषा और शरीर दोनों के पुद्गल पृथक्-पृथक् हैं। जब मुँह भी भाषा नहीं बोलता, तो आत्मा भाषा बोले – यह बात ही कहाँ रही ?

देह-मन-वाणी, आत्मा के साथ एक क्षेत्र में स्थित हैं। उन एकक्षेत्रावगाही पुद्गलों का प्रेरक भी आत्मा नहीं है, तो फिर पुस्तक, पैसा, लक्ष्मी इत्यादि दूरक्षेत्रवर्ती पदार्थों की क्रिया का कर्ता तो आत्मा हो ही कैसे सकता है ? आत्मा तो ज्ञायकमूर्ति है और ये सब पदार्थ ज्ञेय हैं। आत्मा और इनके मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। यह समझे बिना धर्म का अन्य कोई मार्ग नहीं है। वीतराग का मार्ग यही है। पहले सत्समागम से ऐसा वस्तुस्वरूप सुनकर, अन्तर में विचार और मनन करना ही व्यवहार है, इसके अतिरिक्त बाहर की क्रिया में व्यवहार नहीं है।

शरीर की क्रिया होती है, वह तो जड़-परमाणुओं की अवस्था है, आत्मा उसकी व्यवस्था नहीं करता। जड़ की अवस्था ही उसकी व्यवस्था है; इसके लिये उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी जीव, परपदार्थों की व्यवस्था करने का अभिमान करता है, परन्तु वह भी परद्रव्यों का कर्ता या प्रेरक नहीं है। अपने को पर का प्रेरक माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

अज्ञानी कहता है कि यह एकान्त निश्चय है, परन्तु उस अज्ञानी को निश्चय और व्यवहार का भान ही कहाँ है ? उसे एकान्त

www.vitragvani.com



और अनेकान्त के स्वरूप का भी पता नहीं है। आत्मा अपने ज्ञान की अवस्था को करता है, परन्तु पर में कुछ भी नहीं करता, इसका ही नाम अनेकान्त है और इस प्रकार समझने पर परपदार्थों का अहङ्कार मिटकर अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होना धर्म है।

धर्म अद्भुत अलौकिक और अनन्त काल में नहीं प्रगट ऐसी अपूर्व वस्तु है। वह धर्म कैसे हो और आत्मा के जन्म-मरण का अन्त कैसे आये? – इसकी यह बात है। यह ज्ञेय अधिकार है, इसमें सम्यक्त्व का अधिकार भी गर्भितरूप से आ जाता है। धर्मी जीव, शरीरादि समस्त परज्ञेयों को अपने से भिन्न परद्रव्य समझकर उनके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ होकर स्वसन्मुख होता है, उसका यह वर्णन है।

मैं ज्ञायक आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कर्ता नहीं हूँ, उनका करानेवाला नहीं हूँ, और उनके कर्ता का अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ; मैं तो उनका ज्ञाता ही हूँ और वे सब ज्ञेय हैं; इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक का भेदविज्ञान करके ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना अपूर्व सम्यग्दर्शन और मुक्ति का कारण है। यह अधिकार सम्यग्दर्शन को समझने के लिये अमूल्य और अलौकिक है। ●●

दीक्षाकल्याणक प्रवचन 1

# दीक्षावन में वैराग्य भावना

आज भगवान का दीक्षाकल्याणक महोत्सव है। यहाँ जो तीर्थङ्कर भगवान का दीक्षाकल्याणक होता है, वह तो स्थापनारूप है। पूर्व में हो गये तीर्थङ्कर भगवान को वर्तमान ज्ञान में स्मरण करके स्थापना की जाती है। पूर्व में अनन्त तीर्थङ्कर हो गये हैं, वे तीर्थङ्करदेव, मति-श्रुत-अवधि इन तीन ज्ञानसहित ही जन्मते हैं और कितने ही क्षायिकसम्यग्दर्शनसहित जन्मते हैं। वे माता के गर्भ में आये, तब भी उनको अन्तर में ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान है। शरीर-मन-वाणी का एक भी रजकण मेरा नहीं है और जो क्षणिक शुभाशुभविकार होता है, वह किसी पर के कारण नहीं होता, अपितु मेरे पुरुषार्थ की हीनता से होता है। वह शुभाशुभविकार मेरे स्वरूप में से नहीं आता और न वह मेरा स्वरूप है; मैं तो अखण्ड आनन्द का सागर हूँ – ऐसे भानसहित भगवान का आत्मा, स्वर्ग अथवा नरक में से आता है। श्री ऋषभदेव भगवान पूर्व भव में सर्वार्थसिद्धि में देव थे, वहाँ से तीन ज्ञानसहित माता मरुदेवी के गर्भ में पधारे थे।

www.vitragvani.com



जैसे, श्रीफल में ऊपर की छाल, काँचली और अन्दर की लालिमा से भीतर का खोपरा भिन्न है; उसी प्रकार आत्मा चैतन्य गोला है, वह इस स्थूल औदारिकशरीररूप छाल से, कार्मणशरीररूप काचली और अन्दर की राग-द्वेषरूप लालिमा – इन तीनों से भिन्न चैतन्य बिम्ब सहजानन्द शान्तरस की मूर्ति है। जैसे, खोपरे के मीठे और सफेद गोले में जो लालिमा है, वह वस्तुतः काचली की ओर का भाग है; उसी प्रकार आत्मा आनन्दस्वरूप चैतन्य गोला है, उसमें उत्पन्न होनेवाली विकारी वृत्तियाँ पराश्रय से होती हैं; वे वस्तुतः चैतन्यरस की जाति नहीं है – ऐसा भेदज्ञान तो भगवान को मुनि होने के पूर्व ही था। अनन्त तीर्थङ्कर ऐसे भेदज्ञानपूर्वक ही माता के गर्भ में आते हैं। मैं तीर्थङ्कररूप से अवतरित हुआ हूँ – ऐसा विकल्प तथा मुझे तीन ज्ञान है – ऐसा जो भेदभाव, उससे रहित अन्दर में चैतन्यस्वभाव अभेद निर्विकल्प आनन्द का कन्द है – ऐसा भान भगवान को था और इसी के प्रताप से वे तीर्थङ्कर हुए हैं। इस प्रकार हमें भगवान के अन्तर की पहिचान करना चाहिए।

भगवान के माता के गर्भ में आने से छह महीने पूर्व से प्रतिदिन रत्नवर्षा होती थी तथा देव, माता की सेवा करने आते थे। भगवान का आत्मा तो अन्दर से सबके प्रति उदास था, वह तो शरीर को भी अपना नहीं मानता था। वे माता के गर्भ में थे, तब भी – 'इस माता के गर्भ में मैं रहा हूँ, ये मेरे माता-पिता हैं, ये इन्द्र मेरी सेवा करते हैं' – ऐसा विकल्प भी रुचिपूर्वक नहीं था। ऐसे भानसहित श्री ऋषभदेव भगवान का जन्म हुआ। 'सिद्ध समान

www.vitragvani.com



सदा पद मेरो' अर्थात् मैं सिद्ध हूँ, त्रिकाल अखण्ड आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसे आत्मभानसहित वे गर्भ में आये थे, ऐसे भानसहित जन्मे और ऐसे भानसहित भव से पार हुए।

एक बार राज्यावस्था में ऋषभदेव भगवान के राजदरबार में देवियाँ भक्ति से नृत्य कर रही थी, इतने में एक देवी की आयु पूर्ण हो गयी। संसार की ऐसी क्षणभङ्गुरता देखकर भगवान के अन्तर में एकदम वैराग्य जागृत हुआ और वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे।

अहो! आत्मा नित्य वस्तु है और यह शरीर तो संयोगी वस्तु है। माता के गोद में लेने के पूर्व तो यह शरीर, अनित्यता की गोद में आया है। इसे जन्म से पूर्व ही अनित्यता लागू हो गयी है। इसी तरह प्रतिक्षण होनेवाले विकारी परिणाम भी अनित्य हैं, पहले क्षण उत्पन्न होकर दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं। मेरा चिदानन्द आत्मा ध्रुव है, वह नित्य ऐसा का ऐसा टिक रहा है... ध्रुवरूप आत्मा ही मुझे शरण है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। आत्मा को अपने अतिरिक्त तीर्थङ्कर, गणधर, मुनिवर, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती कोई भी शरण नहीं है; एकमात्र अपना ध्रुवस्वभाव ही शरणभूत है। अज्ञानी जीव अपने इस ध्रुवस्वभाव को भूलकर मिथ्यात्व के कारण अनन्त संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने पूर्वभव की स्त्री को मातारूप में और पूर्वभव की माता को स्त्री के रूप में अनन्त बार सेवन किया है। जीव, पुण्य करके स्वर्ग में और पाप करके नरक –निगोद में परिभ्रमण करता है – ऐसे संसार को धिक्कार है।

www.vitragvani.com



'संसार' कोई अन्य वस्तु नहीं, बल्कि आत्मा का ही विकार है। आत्मा सदा पवित्रमूर्ति है और विकार तथा शरीर 'अशुचिमय' है। मेरा स्वभाव त्रिकाल एकरूप है; अत: मुझे अपने स्वभाव से 'एकत्व' है... मैं एक ज्ञायकभाव हूँ। शरीर और रागादि मेरा स्वरूप नहीं है, उनसे मेरा 'अन्यत्व' है। पुण्य-पाप 'आस्रव' है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें लीन होने पर 'संवर-निर्जरा' प्रगट होते हैं। इस संसार में जीव को रत्नत्रयरूप 'बोधि की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ है।' पूर्व में अनन्त काल में आत्मा को सब मिल चुका है; आत्मा को अनन्त काल में नहीं प्राप्त एक रत्नत्रय ही है – इत्यादि प्रकार से भगवान बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करते थे। तत्पश्चात् लोकान्तिक देव आकर प्रभु की स्तुति करके वैराग्य का अनुमोदन करते हैं और देव, दीक्षाकल्याणक महोत्सव मनाने आते हैं। भगवान दीक्षा लेकर चारित्रदशा अङ्गीकार करते हैं – यह सब दृश्य अभी यहाँ हो गया है।

आत्मा को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर भी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। चारित्रदशा किसी बाह्य वेष में नहीं, परन्तु आत्मा के सिद्ध जैसे अतीन्द्रिय आनन्द में लीन होने पर तीन कषाय चौकड़ी का नाश होकर छठवें-सातवें गुणस्थान की वीतरागी दशा प्रगट होती है, वह चारित्रदशा है। ऐसी चारित्रदशा जिनको प्रगट हुई हो, उन्हें ही मुनि कहते हैं। इस चारित्रदशा के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म होता है परन्तु मुनिदशा नहीं होती।

www.vitragvani.com



भगवान को स्वयं को आत्मा का परिपूर्ण आनन्द दृष्टि में तो आया है – पूर्णानन्दस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान हुआ है; अपने आत्मा में निश्चित हुआ है कि मैं इसी भव से केवलज्ञान लेकर मोक्ष जानेवाला हूँ, तथापि तीर्थङ्कर भगवान को भी चारित्रदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता; इस कारण भगवान को वैराग्य होने पर वे दीक्षा अङ्गीकार करते हैं। 'मैं दीक्षा लेकर मुनि होऊँ' – ऐसा विकल्प तो राग है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है तथा बाह्य में केशलोंच अथवा वस्त्रत्याग की क्रिया जड़ की है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। आत्मा को मुनि होने की वृत्ति उत्पन्न हुई, वह राग है; चारित्रदशा उस राग के कारण नहीं होती परन्तु स्वभाव की लीनता से चारित्रदशा होती है। इसी प्रकार उस राग के कारण वस्त्रत्याग की क्रिया नहीं होती, वह तो जड़ के स्वभाव से होती है।

आत्मा के मुनिदशा प्रगट होने पर वस्त्र का संयोग उसके कारण स्वयं छूट जाता है, वहाँ आत्मा के शुभपरिणाम को निमित्त कहा जाता है परन्तु वस्तुतः तो वस्त्र के पुद्गलों में वर्तमान पर्याय का वैसा ही परिणमन होने की योग्यता थी; आत्मा उसका कर्ता नहीं है तथा जो पञ्च महाव्रत का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ, उसे चारित्रदशा का निमित्त कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः तो वह राग है, वह वीतरागीचारित्र का कारण नहीं है और परमार्थ से आत्मा उस विकल्प का कर्ता भी नहीं है। आत्मा के अन्तरस्वभाव में स्थिर होने पर वह विकल्प छूट जाता है। 'भगवान ने वस्त्र का त्याग किया' – ऐसा कथन आता है परन्तु वस्तुतः तो स्वरूप में स्थिरता

www.vitragvani.com



से राग छूट गया और राग छूट जाने से उसके निमित्तरूप वस्त्र स्वयमेव छूट गये हैं।

प्रभुश्री स्वयं दीक्षा अङ्गीकार करके आत्मध्यान में मग्न हुए और तुरन्त ही उनको सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान तथा मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ। तीन काल के अनन्त सन्तों का एक ही प्रकार है कि आत्मा के भानपूर्वक पहले तो मुनि होने का विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु वे उसका आश्रय नहीं मानते और बाह्य में परिग्रह का सङ्ग नहीं होता। पश्चात् अन्तर चैतन्यस्वभाव में लीन होने पर मुनियों को प्रथम सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। जिसको मुक्ति होती है, उसको यह दशा आये बिना कभी मुक्ति नहीं होती। गृहस्थपने में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना हो सकता है परन्तु इस दशा के बिना किसी सम्यग्दृष्टि की भी गृहस्थपने से मुक्ति नहीं हो जाती।

कोई जीव, द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर यह मानता है कि मैं वस्त्र के त्याग की क्रिया करता हूँ, तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। साधुपद में स्वरूप के भानसहित राग टूटने पर शरीर की निर्ग्रन्थता उसके कारण हो जाती है, उस काल में ऐसा ही उन पुद्गलों के परिवर्तन का काल है; आत्मा का स्वकाल अपने में स्थिरता का है। जहाँ आत्मा के स्वकाल में भाव निर्ग्रन्थता हुई, वहाँ अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय चौकड़ीरूप कर्म के परमाणुओं का नाश हो जाता है, वह पुद्गल का स्वकाल है और बाह्य में वस्त्रादिक छूटना, वस्त्रादिक के परमाणुओं का स्वकाल है। इस प्रकार प्रत्येक का स्वकाल स्वतन्त्र होने पर भी, जब आत्मा में स्थिरता का

www.vitragvani.com



स्वकाल होता है, तब कर्म परमाणुओं में तीन कषाय कर्मों का अभाव न हो – ऐसा नहीं होता और वस्त्रादि का वियोग नहीं हो, ऐसा भी नहीं होता – ऐसा ही निर्मल मुनिदशा का और वस्तु का स्वभाव है।

अनादि-अनन्त सन्तों की ऐसी ही दशा है कि अन्तर में एकदम वीतरागता होती है और बाहर में वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता। शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी रखने का लक्ष्य हो और छठवें-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा टिकी रहे – ऐसा तीन काल तीन लोक में नहीं हो सकता। यह मार्ग किसी की कल्पना नहीं है परन्तु आत्मा के भानपूर्वक लंगोटीरहित (नग्न दिगम्बर) मुनिदशा हो – ऐसा सनातन अनादि वस्तुस्वभाव का / पर्याय का धर्म है। इस पर्याय को अन्यथा माननेवाले ने मुनिदशा अथवा वस्तुस्वभाव को नहीं जाना है।

यद्यपि आत्मा, वस्त्र के ग्रहण-त्याग का कर्ता नहीं है; तथापि जब आत्मा में तीन कषाय चौकड़ी के नाशरूप वीतरागी चारित्रदशा प्रगट होती है, तब सहजरूप से राग और वस्त्र का अभाव हुए बिना नहीं रहता – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

देखो, यह बात अपनी मति-कल्पना से नहीं कही जा रही है; परन्तु भगवान की दिव्यध्वनि में से कही जाती है। बींछीया का अहो भाग्य है कि यहाँ पर पञ्च कल्याणक का महान उत्सव हो रहा है और इसी वन में दीक्षा कल्याणक का उत्सव हो रहा है।

अहो! आज महा वैराग्य का दिन है, परम उदासीनता का प्रसङ्ग है। आज भगवान, वीतरागीचारित्रदशा धारण करते हैं। इस

www.vitragvani.com



आत्मा को भी ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। यहाँ तो भगवान की दीक्षा की स्थापना है परन्तु इस अवसर पर स्वयं को यह भावना करना चाहिए कि मुझे कब ऐसी परम वीतरागी निर्ग्रन्थदशा आयेगी? कब मैं मुनि होकर आत्मध्यान में लीन होऊँगा? मैं कब इन वीतरागी सन्तों की पंक्ति में बैठूँगा? – ऐसी भावना कौन करता है? – जिसे आत्मा के रागरहित चिदानन्दस्वभाव का भान हो और मुनिदशा के यथार्थ स्वरूप की पहिचान हो, वही ऐसी यथार्थ भावना कर सकता है।

यह मुनिदीक्षा की स्थापना का निक्षेप है। यह निक्षेप कौन कर सकता है? स्थापना तो निमित्त है, पर है, व्यवहार है; उपादान के बिना निमित्त नहीं होता; स्व के भान बिना पर का भान नहीं होता और निश्चय के बिना सच्चा व्यवहार नहीं होता; इसलिए जिसको स्व-उपादान के निश्चयस्वभाव की पहिचान हो, वही पर-निमित्त में स्थापना-निक्षेपरूप व्यवहार को यथार्थ जानता है। मुनिपद तो रागरहित चारित्रदशा है; अतः पहले जिसे रागरहित आत्मस्वभाव की पहिचान हुई हो, वही रागरहित होने का पुरुषार्थ कर सकता है, परन्तु जो राग को ही अपना स्वरूप मानता है, वह जीव, रागरहित होने का पुरुषार्थ किसके बल से करेगा? उसे रागरहित होने की भावना भी यथार्थ नहीं होती।

धर्मी को अपने रागरहित ज्ञानमूर्ति स्वभाव की दृष्टि है और अवस्था में कमजोरीवश राग है, उस राग को स्वभाव की एकाग्रता के बल से टालकर मुनि होने की भावना हे। सहजस्वरूप की एकाग्रता बिना 'राग छोड़ूँ' – ऐसी हठ से राग नहीं छूटता। हठ से

www.vitragvani.com



बाह्य त्याग कर देना वास्तविक त्याग नहीं कहलाता। 'राग का अभाव करूँ' – ऐसी बुद्धि से राग का अभाव नहीं होता, तथापि इसे राग के अभाव का उपाय माननेवाला जीव, पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

वस्तुतः राग का अभाव नहीं करना पड़ता, परन्तु दूसरे समय अन्दर में ध्रुव सत्स्वभाव का आश्रय करने पर राग की उत्पत्ति ही नहीं होती, इसका नाम 'राग का त्याग' है। इस प्रकार भगवान आत्मा को राग का त्याग नाममात्र है, क्योंकि राग, स्वभाव में नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव में एकाग्र हुआ, वहाँ राग को छोड़ना नहीं पड़ता,अपितु राग सहज छूट जाता है। अहा...! जब आत्मा राग को भी नहीं छोड़ता तो फिर आत्मा वस्त्रादि पर को छोड़े – यह तो हो ही कैसे सकता है? – ऐसा होने पर भी मुनिदशा में वस्त्र का संयोग रहे – यह भी तीन काल में नहीं हो सकता।

तीन काल-तीन लोक में वस्तु की पर्याय का ऐसा ही नियम है कि छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलनेवाले सन्तों को वस्त्र का विकल्प भी नहीं होता। अहो! यह तो परम उदासीन दशा है। जैसे कछुआ भय की दशा में पैर और मुँह को पेट में समेट लेता है; उसी प्रकार मुनि की दशा इन्द्रियों से सिमटकर अपने स्वभावसन्मुख झुक गयी है, मुनि अपने स्वभाव में गुप्त हो गये है। मुर्दे की तरह शरीर के रजकण काम करते हैं, उनका स्वामित्व अन्दर में से उड़ गया है – ऐसे सन्त को शरीर का रक्षण करने की अथवा उसको ढ़कने की वृत्ति उत्पन्न होने का भी अवकाश नहीं

www.vitragvani.com



रहा है। अहो! यह दशा आत्मा को प्रगट हो, वह पल धन्य है! धन्य काल है!! धन्य भाव है!!!

इस धन्य अवसर की भावना करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि —

**नग्नभाव मुंडभाव सहित अस्नानता,**
**अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जब;**
**केश, रोम नख आदि अंग शृंगार नहीं,**
**द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जब;**
**— अपूर्व अवसर ऐसा किसदिन आयेगा ?**

— ऐसी दशा के बिना तीन काल–तीन लोक में पूर्णदशा की प्राप्ति नहीं होती। शरीर-मन-वाणी की किसी भी क्रिया पर आत्मा का अधिकार नहीं है — ऐसे अन्तरभानपूर्वक जिन्हें शरीर के शृंगार की वृत्ति मिट गयी है; अन्तर में चैतन्य के ध्यान के लिए बाह्य में सहजरूप से मुख्यत: मौनदशा वर्तती है। मुनिवरों को स्वभाव की लीनता में ऐसी उत्कृष्ट वैराग्यदशा होती है।

परमागम श्रीसमयसारभगवान, वैराग्य का अर्थ ऐसा कहता है कि पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर आत्मस्वभाव की रुचि करना ही वैराग्य है। चैतन्यमूर्ति आत्मा के सन्मुख ढलने पर जो पुण्य-पाप के प्रति विरक्त हो गया है; स्वभाव की रुचि हुई है, वह अस्ति और स्वभाव की रुचि होते ही पुण्य-पाप दोनों की रुचि मिटी, वह नास्ति है। अखण्डानन्दस्वभाव की रुचि होने पर 'पुण्य भला और पाप बुरा' — ऐसी विपरीतमान्यता मिट गयी और पुण्य-पाप में मध्यस्थता हो गयी — यही वैराग्य है। ऐसे जीव को पाप का

www.vitragvani.com



तिरस्कार और पुण्य का आदर नहीं है; अपितु वह तो पुण्य और पाप दोनों से विरक्त है।

समयसार गाथा 150 में कहा है कि —

**रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।**
**एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥**

**जीव रागी बाँधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ती लहे।**
**–ये जिनप्रभू उपदेश है, नहिं रक्त हो तू कर्म से॥**

जिस जीव की ऐसी बुद्धि है कि शुभकर्म से आत्मा को लाभ होता है, वह वस्तुत: कर्म में ही रक्त है, उसे सच्चा वैराग्य होता ही नहीं है और वह कर्मों को बाँधता है। धर्मी जीव तो शुभाशुभ दोनों कर्मों से भिन्न आत्मस्वभाव को जानकर उन शुभाशुभकर्मों के प्रति विरक्त है; इस कारण वह मुक्ति प्राप्त करता है। पुण्य और पाप दोनों मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसे भान से दोनों के प्रति मध्यस्थ होकर अपने स्वभाव के आश्रय से होनेवाले निर्मलपरिणाम को भगवान वैराग्य कहते हैं।

चारित्रदशा धारण करने से पूर्व भी भगवान ऋषभदेव को निर्णय था कि मैं इसी भव में केवलज्ञान और मुक्ति पानेवाला हूँ और साथ ही यह भी निर्णय था कि पुरुषार्थ के बिना केवलज्ञान नहीं होता। जब मैं पुरुषार्थ द्वारा मुनिदशा प्रगट करके आत्मध्यान में स्थिर होऊँगा, तभी केवलज्ञान होगा।

जब भगवान ने दीक्षा अङ्गीकार की थी, तब उनके साथ अन्य चार हजार बड़े राजा भी देखादेखी स्वयं दीक्षित हो गये थे,

www.vitragvani.com



परन्तु वह तो मात्र बाह्य नकल थी; अन्दर के असलरहित नकल थी। ऋषभदेव भगवान को तो आत्मा के अनुभव की लीनता में रहने से छह महीने तक तो आहार की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं हुई, परन्तु उनके साथ दीक्षित हुए राजा, क्षुधा आदि सहन नहीं कर सके; इस कारण वे सब भ्रष्ट हो गये। इसलिए कहावत है कि 'भूखे मरते भाग गये।' अन्तर की शान्ति के रस बिना समता कहाँ से रहेगी? 'मैंने इतने दिनों तक आहार नहीं किया' – ऐसे जहाँ आहार नहीं करने के दिन गिने जाते हों, उसको आत्मा की सच्ची समता कहाँ से रहेगी? उसका लक्ष्य तो आहार पर ही पड़ा है। आहार और शरीरादि बाह्य पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में परम आनन्द के अनुभव में एकाग्र होने पर सच्ची समता रहती है।

श्री ऋषभदेव भगवान, आत्मा में स्थिर थे, उन्हें आहार का विकल्प टूट गया था। छह माह पश्चात् आहार की वृत्ति उत्पन्न हुई, परन्तु छह माह तक आहार का योग नहीं बना। वहाँ भगवान तो आत्मा के आनन्द में मस्त हैं, बाहर में आहार का संयोग तो उतने काल होनेवाला ही नहीं था, इस कारण नहीं हुआ। बाह्य दृष्टि से देखनेवाले अज्ञानी लोग तो बारह महीने तक आहार नहीं होने को भगवान का तप मानते हैं और उसकी नकल में 'वर्षीतप' करते हैं, परन्तु आहार नहीं आना तो जड़ की क्रिया है, उसमें तप नहीं है; तप तो आत्मा के ध्यान में लीन होने पर सहज इच्छा के अभाव होने का नाम है। भगवान तो अन्दर की दशा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप कहते हैं।

www.vitragvani.com



सर्व प्रथम तो सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करे और पश्चात् उसमें विशेष एकाग्र होने पर सहज ही पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा का अभाव हो जाए, वह त्याग है। सम्यग्दर्शन होते ही राग की मिठास तो उड़ जाती है, अर्थात् विषयों में सुखबुद्धि नहीं रहती। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि को राग होता है और बाह्य में स्त्री आदि का संयोग होता है; तथापि उस ज्ञानी को उस राग व संयोग में कहीं भी सुखबुद्धिपूर्वक राग नहीं होता, मात्र आसक्ति (चारित्रमोह) का राग होता है। पश्चात् आत्मा में विशेष लीनता होने पर आसक्ति का राग भी नहीं रहता और बाह्य में स्त्री आदि कोई परिग्रह नहीं होता – ऐसी दशा को चारित्रदशा कहते हैं।

जो जीव, विषयों में सुख मानता है, जिसको पुण्य और उसके फल में मिठास है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आत्मा में आनन्द नहीं माननेवाला ही विषयों और विकल्प में सुख मानता है। धर्मी जीव को तो सुखस्वरूपी आत्मा का भान है, तत्पश्चात् उसमें स्थिरता करने से राग छूट जाने पर 'बाह्य स्त्री इत्यादि को छोड़ा' – ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः 'मैं रानियों को छोड़ू' – ऐसा ज्ञानी का अभिप्राय नहीं होता। जब राग था, तब रानियों का निमित्तपना था परन्तु स्वरूप की चारित्रदशा द्वारा अपने उपादान में से राग का अभाव हो गया; अतः रानियों का निमित्तपना भी छूट गया, इस कारण 'रानियों को छोड़ा' – ऐसा कहा जाता है। कोई जीव ऐसी समझ और ऐसी दशा प्रगट किये बिना परमात्मा नहीं हो सकता है।

www.vitragvani.com



अहो! भगवान ने ऐसे भानपूर्वक चारित्रदशा अङ्गीकार की और वीतरागी ध्यान में स्थिर हुए। अहा...! धन्य है वह दशा!!

**यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,**
**शक्ति विहीन अवस्था मनरथरूप जब।**
**तो भी निश्चय 'राजचन्द्र' के मन रहा,**
**प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब।**

**अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,**
**कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब।**
**सम्बन्धों का बंधन तीक्ष्ण छेद कर,**
**विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब॥**

अहो! अन्तर के भानसहित निर्ग्रन्थता! श्रीमद् राजचन्द्रजी को आत्मा का भान है और वे गृहस्थाश्रम में ऐसी भावना करते हैं। श्रीमद्जी ने विक्रम संवत् 1952 के वर्ष में 28 वर्ष की उम्र में यह भावना की थी। ऐसी भावना भाये बिना और ऐसी साक्षात् दशा प्रगट किये बिना किसी जीव का कल्याण नहीं होता। चारित्रदशा के बिना अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं हो जाता। अट्ठाईस मूलगुणोंसहित वीतरागीचारित्रदशा ही सन्तों का सनातन मार्ग है। यह धन्य अवसर, अर्थात् आत्मा की वीतरागीदशा का स्वकाल कब आयेगा? – ऐसी उग्र भावना की है। प्रत्येक जीव को आत्मा का भान करके यह भावना करने योग्य है। इस भावना से आत्मा की रागरहितदशा होकर केवलज्ञान प्रगट होना ही कल्याण है।

आज का प्रसङ्ग महान वैराग्य भावना का है। ●●

ज्ञान कल्याणक प्रवचन 1

# अरिहन्तदेव की दिव्यध्वनि का सार

पञ्च कल्याणक महोत्सव के अन्तर्गत आज प्रातः दीक्षाकल्याणक हुआ था और अभी भगवान के केवलज्ञानकल्याणक का उत्सव हुआ। भगवान की आत्मा को सर्वज्ञदशा प्रगट हुई और समवसरण में उनकी निरक्षरी ॐ ध्वनि खिरने लगी। सामान्य जीवों की भाषा में क्रम और भेद पड़ता है, वैसा भगवान की वाणी में नहीं होता। भगवान की वाणी अभेद, एक समय में सम्पूर्ण रहस्य कहनेवाली होती है। इसमें सूक्ष्म न्याय विद्यमान है।

आत्मा, ज्ञानादि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान होने पर भी, जहाँ तक राग और विकल्प वर्तता है, वहाँ तक वाणी में अभेद – एकाक्षरीपना सहज ही नहीं आता। जहाँ चैतन्य में भेद पाड़नेवाले उपाधिभाव हैं, वहाँ वाणी भी भेदवाली आती है। अभेद चैतन्य की स्थिरता द्वारा उस चैतन्य में भेद पाड़नेवाले उपाधिभावों का नाश होने पर अखण्ड केवलज्ञानदशा द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात हुआ और तब वाणी भी सहजरूप से अभेद हो गयी।

www.vitragvani.com



श्री अरिहन्त भगवान के ॐ – ऐसी एकाक्षरी वाणी कैसे हुई? उसकी यह बात चलती है। यह अन्तर की बात है। जब अभेदरूप चैतन्यस्वभाव, केवलज्ञान से अनुभव में आता है, तब बाणी भी अभेद निकलती है। ज्ञान में से जानने का क्रम मिट गया, वहाँ वाणी में भी कथन का क्रम मिट गया। वहाँ यद्यपि ज्ञान के कारण वाणी नहीं निकलती और न जड़ वाणी को यह पता ही है कि भगवान को केवलज्ञान हुआ है, इसलिए मैं अभेदरूप परिणमूँ; तथापि ज्ञान और वाणी के ऐसा ही सम्बन्ध है कि ज्ञान पूर्ण होने पर वहाँ वाणी भी अभेद हो जाती है। जीव को केवलज्ञान हुआ हो और वाणी भेदवाली हो – ऐसा कभी नहीं होता।

भगवान की दिव्यवाणी निरक्षरी होने पर भी, सुननेवाले जीवों को तो वह साक्षररूप ही सुनने में आती है और सभी जीव अपनी –अपनी भाषा में अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं। भगवान का शरीर स्तब्ध-स्थिर होता है; ओंठ और मुँह बन्द होता है तथा ॐ ध्वनि सर्वाङ्ग में छूटती है। वह एकाक्षरी होने पर भी श्रोताजनों की पात्रतानुसार साक्षरीरूप समझ में आती है – ऐसा उसका स्वभाव है।

दिव्यध्वनि खिरने योग्य परमाणु, सम्यग्दर्शन की भूमिका में ही बँधते हैं और केवलज्ञान की भूमिका में ही वे खिरते हैं। पहले पूर्व भवों में भगवान को 'मैं परिपूर्ण अखण्डानन्द चैतन्य परमात्मा हूँ' – ऐसा अपूर्व आत्मभान तो था परन्तु अस्थिरता थी। अभी से तीसरे पूर्व भव में दर्शनविशुद्धिपूर्वक ऐसा विकल्प हुआ कि अहो! मैं परिपूर्ण होऊँ और निमित्त अपेक्षा कहें तो 'जगत के जीव, आत्मा

www.vitragvani.com



को समझकर इस धर्म को प्राप्त करें' – ऐसा धर्मबुद्धि का विकल्प उत्पन्न हुआ और इसके निमित्त से तीर्थङ्करनामकर्म के जड़ परमाणु बँध गये। जब वह विकल्प टूटकर अभेद स्वभाव प्रगट हुआ, तब धर्मसभा में ॐ ऐसी अभेदवाणी छूटी। पूर्व में भगवान को धर्मबुद्धि के कारण बँधी वह वाणी, जगत के जीवों को धर्मबुद्धि का ही कारण है।

भगवान की उस वाणी को समझा कौन कहलाता है? भगवान स्वयं आत्मा के अभेदस्वभाव की दृष्टि और स्थिरता करके भगवान हुए हैं और उपदेश में भी अभेदस्वभाव की दृष्टि और स्थिरता करने को ही भगवान कहते हैं। भगवान की वाणी परिपूर्ण रागरहितपना ही बताती है, राग का एक अंश भी आदरणीय नहीं है – ऐसा जो समझता है, वह जीव ही भगवान की वाणी को समझा है। जो कोई गिरने की अथवा पुरुषार्थ के शिथिलपने की बात निकालता है अथवा राग से धर्म और निमित्तादि पर का आश्रय मानता है, वह जीव, भगवान की वाणी को नहीं समझा है।

भगवान की वाणी में परिपूर्ण स्वाश्रय का ही उपदेश है। जीव को पहले दृष्टि से स्वाश्रय होता है और बाद में स्थिरता से स्वाश्रय होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों स्वाश्रित परिणाम हैं। भगवान ने स्वाश्रय को ही मोक्षमार्ग कहा है और पराश्रय को बन्धमार्ग कहा है। इस प्रकार समझकर, जो जीव अपने आत्मा में स्वाश्रयपना प्रगट करता है, वस्तुतः वही भगवान के उपदेश को समझा है और उसे ही भगवान की वाणी निमित्त कहलाती है। समझनेवाला जीव समझता तो अपनी ही पात्रता से है, कोई भगवान की वाणी उसे

www.vitragvani.com



समझा नहीं देती परन्तु यहाँ तो निमित्तरूप भगवान की वाणी का जैसा आशय है, वैसा ही जीव समझे तो ही उपादान–निमित्त का मेल होता है।

भगवान की अभेद वाणी केवलज्ञान का झंकार लेती आती है, वह जीवों को धर्म में आगे बढ़ने का ही निमित्त है। पूर्व में पूर्णता के विकल्प से बँधी हुई वह वाणी, श्रोताओं को परिपूर्णता की तरफ ले जाने में ही निमित्त है। भगवान का सम्यग्दर्शन उस भव में अप्रतिहत होता है और वे अप्रतिहत स्वरूप स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करते हैं। इन्द्र आकर दिव्य समवसरण की रचना करते हैं, उसमें बारह सभाएँ होती हैं और पूर्व में पूर्णता के विकल्प से बँधी हुई दिव्यध्वनि सहजरूप से छूटती है।

वह वाणी क्या कहती है ?

भगवान की वाणी कहती है कि हे जीवों! तुम अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव को पहिचान कर उसमें स्थिर होओ। आत्मा के आनन्द में झूलो... अभेद स्वभाव में स्थिर होओ.... स्वभाव में स्थिर होओ! तुम अपने आत्मा में पूर्ण स्वतन्त्र हो, आत्मा को कर्म आदि कोई भी पदार्थ बाधक नहीं है। आत्मा को समझकर स्थिरता का सब अवसर आ गया है। जिस जीव ने वास्तव में अपने उपादान में स्वभाव–सन्मुखता की दृष्टि और स्थिरता की बुद्धि को स्वीकार किया है, उसी ने हमारी वाणी को निमित्तरूप से स्वीकार किया है। स्वभाव की बुद्धि का स्वीकार, यह उसका उपादान है और वाणी उसकी निमित्त है – ऐसा उपादान–निमित्त का मेल है। यह भगवान के उपदेश का रहस्य है।

www.vitragvani.com



पूर्व में जब भगवान को वाणी के रजकण बँधे, तब निमित्तरूप 'मैं पूर्ण होऊँ, पुनः गिरुँ नहीं' – ऐसा विकल्प था परन्तु वापस पड़ने का विकल्प नहीं था। उस धर्मबुद्धि के भाव से बँधी हुई वाणी, जगत के जीवों को भी पूर्णता की ओर ले जाने में ही निमित्त है। आत्मा का स्वभाव समझकर, उसका आश्रय करने को ही भगवान की वाणी बताती है और इस प्रकार स्वभावसन्मुख ढलने में ही भगवान की वाणी का निमित्तपना है।

'तू अभी नहीं समझ सकता, तेरे कठोर कर्मोदय हैं, इसलिए तुझसे पुरुषार्थ नहीं होगा' – ऐसा कहनेवाली भगवान की वाणी नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करके स्थिर हो – ऐसा ही उस दिव्यवाणी का निमित्तपना है। इसके अलावा अन्य विपरीत समझनेवाला जीव, भगवान की वाणी को, सन्तों के हृदय को अथवा बारह अङ्ग के रहस्य को नहीं समझा है। वस्तुतः उसने भगवान की वाणी सुनी ही नहीं है।

भगवान की वाणी में क्या आया? भगवान की वाणी में यह आया कि इस जगत में छह द्रव्य हैं। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल – ये छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। जीव अनन्त है; पुद्गल, जीव से अनन्त, अर्थात् अनन्तानन्त हैं; धर्म, अधर्मद्रव्य, एक-एक है; कालद्रव्य असंख्यात हैं और आकाशद्रव्य सर्वव्यापक एक है। उनमें जीवद्रव्य ज्ञानसहित चेतन है और अन्य पाँच द्रव्य ज्ञानरहित जड़ हैं। ये चेतन और जड़, समस्त द्रव्य अपने स्वभाव से परिपूर्ण और स्वाधीन हैं। प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनन्त गुण हैं और उन प्रत्येक द्रव्यों में एक

www.vitragvani.com



–एक समय में नयी–नयी अवस्था हुआ करती है, उस अवस्था का कर्ता कोई अन्य नहीं है। आत्मा की अवस्था भी प्रति समय स्वतन्त्ररूप से होती है। उस अवस्था द्वारा आत्मा को पर से भिन्न समझकर और अपने में क्षणिक अवस्था की दृष्टि छोड़कर, त्रिकाली परिपूर्ण स्वभाव की दृष्टि करने में स्वयं स्वाधीन है – ऐसा रहस्य भगवान की वाणी में आया है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, प्रवचनसार की गाथा 80 से 82 तक में भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य प्रसिद्ध करते हुए कहते हैं कि यह एक ही मोक्ष को पारमार्थिक पन्थ समस्त अरहन्तों ने स्वयं अनुभव करके जगत को दर्शाया है —

**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।**
**सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ 80॥**

**जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।**
**जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥ 81॥**

**सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।**
**किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥ 82॥**

**जो जानता अरहन्त को द्रव्यत्व-गुण-पर्याय से।**
**वह जानता है आतमा हो मोहक्षय तब नियम से॥ 80॥**

**हो मोहविरहित जीव आत्मस्वरूप सम्यक् प्राप्त हो।**
**हो त्याग राग–द्वेष का तो शुद्ध आत्मा प्राप्त हो॥ 81॥**

**अरहन्त सब ही उस विधि से नष्ट कर कर्मांश को।**
**देकर तथाविध देशना मुक्ति गये हैं – नमन हो॥ 82॥**

www.vitragvani.com



स्वाश्रय से परिपूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने के पश्चात् श्री तीर्थङ्कर भगवान की वाणी निकली कि 'अरिहन्त भगवान के आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में राग नहीं, अपूर्णता नहीं, निमित्त का अवलम्बन नहीं; उनको परिपूर्ण ज्ञान खिल गया है। जो जीव ऐसे अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह वस्तुतः अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। फिर शुद्धात्मस्वरूप को पाकर, उसके ही आश्रय से राग-द्वेष का क्षय करके केवलज्ञान पाता है। इसी विधि से समस्त अरिहन्त भगवन्तों ने कर्म का क्षय किया है और यही उपेदश दिया है, उनको नमस्कार हो।'

अहो! अद्भुत रचना है! 80 वीं गाथा में तो क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात है। श्री सीमन्धर भगवान के पास गये, तब श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात मुख्यरूप से सुनी थी। भगवान की वाणी में तो सब एकसाथ ही आता है परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भगवान की वाणी में से क्षायिक सम्यग्दर्शन नितार लिया था और इस पञ्चम काल में अपनी आत्मा में क्षयोपशम सम्यक्त्व होने पर भी अप्रतिहत सम्यग्दर्शन का ज़ोर था, जिसके स्वर इस गाथा में विद्यमान है।

जिसने अरिहन्त भगवान को जाना, उसने अपने आत्मा का भी वैसा स्वभाव जाना; अतः उसे स्वभाव के आश्रय की प्रतीति खिल गयी, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ और मोह का क्षय हुआ। श्री आचार्य भगवान ने तो यहाँ मोह के क्षय की, अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात की है, इसमें गम्भीर रहस्य है।

www.vitragvani.com



**जिस सम्यग्दर्शन में बीच में भङ्ग पड़े बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन होना है, वह सम्यग्दर्शन भी क्षायिक सम्यग्दर्शन के समान ही है।** मैं जिस सम्यग्दर्शन से चला हूँ, उससे वापस गिरे बिना अप्रतिहतभाव से केवलज्ञान लेनेवाला हूँ – ऐसी ध्वनि, भगवान की आत्मा में से उठी है।

अहा! देखो तो सही गाथा!!

**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।**
**सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ 80॥**

अहो! इस गाथा में तो केवली भगवान के अन्तर का रहस्य भर दिया है। अरिहन्त परमात्मा में पूर्णता है, उनमें किञ्चित् भी राग-द्वेष नहीं है; इसलिए मेरे में भी नहीं है; उनको अपूर्णता नहीं है, इसलिए मेरे में भी नहीं है। इस प्रकार पर्याय में राग-द्वेष और अपूर्णता होने पर भी, उसका निषेध करके, पूर्णस्वभाव की दृष्टि में अपूर्णता का नाश करने की दृष्टि हो गयी; अतः सम्यग्दर्शन हो गया। तत्पश्चात् उसी पूर्ण स्वभाव में लीनता से मोह का (चारित्रमोह का) क्षय करके, आत्मा स्वयं परमात्मा होता है। इस प्रकार कहकर आगे 82 वीं गाथा में आचार्य भगवान कहते हैं कि —

**सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।**
**किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥**

देखो तो सही! कुन्दकुन्द भगवान के वचन कहाँ से आये हैं!! ऐसा एक वचन तो कोई लाओ! '**सव्वेपि य अरहंता**' – 'समस्त अरिहन्तों ने ऐसा किया' – ऐसा कहने में अपनी प्रतीति का अपरिमित जोर है और **खविद कम्मंसा** – कर्मों का क्षय

www.vitragvani.com



किया; इस प्रकार क्षपक की ही बात ली है। आत्मा के ज्ञान द्वारा स्वभाव का आश्रय करके ही सर्व अरिहन्तों ने कर्म के अंशों का क्षय किया है और फिर उन भगवन्तों ने वैसा ही उपदेश दिया है; इसलिए वह एक ही मोक्षमार्ग है। समस्त अरिहन्त इसी मार्ग से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं और समवसरण में दिव्यध्वनि द्वारा जगत को इसी मार्ग का उपदेश दिया है – ऐसा कहकर स्वभाव के उल्लासपूर्वक आचार्यदेव कहते हैं कि **णमो तेसिं** अहो। उन भगवन्तों को नमस्कार हो।

जो भगवान के श्रीमुख से आया और जिसे आचार्यदेव ने अन्तर में झेला, वही यहाँ कहा जा रहा है। इस विधि से ही सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान प्राप्त होता है, अन्य कोई विधि नहीं है। आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र – दोनों में क्षायिकभाव की ही बात की है।

जिसने अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय किया, वह जीव, राग अथवा अपूर्णता का आश्रय नहीं करता, क्योंकि भगवान सर्वज्ञदेव को राग अथवा अपूर्णता नहीं है; इस कारण राग और अपूर्णता इस आत्मा का भी स्वभाव नहीं है। सर्वज्ञ भगवान एक समय में परिपूर्ण जानते हैं; वैसे ही मेरा भी परिपूर्ण जानने का स्वभाव है। इस प्रकार सर्वज्ञ को जाननेवाला जीव, अपनी अवस्था में अपूर्ण ज्ञान होने पर भी, वह मेरा स्वरूप नहीं है, अपितु पूर्ण ज्ञान ही मेरा स्वरूप है – ऐसे अपने पूर्ण स्वभाव का आश्रय करके उसकी प्रतीति करता है।

भगवान का उपदेश यही है कि हे भव्य जीवों! तुम अपने ज्ञान

www.vitragvani.com



में सर्वज्ञ का निर्णय करो। तुम्हारे आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव भरा है। भगवान होने की परिपूर्ण सामर्थ्य तुम्हारे में है, उसकी श्रद्धा करके उसका सेवन करो तो परमात्मदशा प्रगट होगी। जैसे, मोर के अण्डे में सुन्दर रंग-बिरंगा मोर होने की सामर्थ्य है; इस कारण उसमें से मोर होता है, वह मोर होने की ताकत अण्डे के ऊपर के छिलके में से नहीं आती। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की सामर्थ्य है, उसका विश्वास करके उसमें स्थिरता होने पर उसमें से ही परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। वह परमात्मदशा किन्हीं बाहर के कारणों से अथवा शुभराग से नहीं होती।

पूर्णस्वभाव-सन्मुख ढलने पर सम्यक्मति-श्रुतज्ञानरूपी कला में से केवलज्ञानरूपी सम्पूर्ण कला खिल जाती है। – आत्मा की कला इस जाति की है, इसके अतिरिक्त बाहर की कला में चतुरपना चलाना आत्मा की कला नहीं है।

अखण्ड स्वभाव के सन्मुख ढलनेवाला मति-श्रुतज्ञान भी पूर्ण ज्ञान जैसा ही है क्योंकि वह भी अपूर्णता का निषेध करके पूर्ण स्वभाव के आश्रय से ही कार्य करता है। जो ज्ञान, अपूर्णता का निषेध करके, अर्थात् व्यवहार का ही निषेध करके पूर्ण स्वभाव का आदर और आश्रय करता है, वह ज्ञान, पूर्णता को प्राप्त करता है।

'तुम आत्मा का धर्म नहीं कर सकते, तुम्हें किसी अन्य की मदद चाहिए' – भगवान ने ऐसा पराश्रय नहीं बताया है। भगवान ने तो स्वाश्रय बताया है कि आत्मा में पूर्ण सामर्थ्य है, वह अपने ही आश्रय से ही धर्म और मुक्ति प्राप्त करता है; इस कार्य में उसे अन्य किसी की सहायता है ही नहीं। जैसे, बैटरी में पावर भरा होता है,

www.vitragvani.com



इस कारण तार डालकर उस पावर के साथ जोड़ देने से प्रकाश प्रगट होता है; इसी प्रकार आत्मा में परिपूर्ण चैतन्यपावर भरा है, उसकी श्रद्धारूपी तार डालकर उसमें एकाग्र होने पर चैतन्यप्रकाश खिल जाता है। यह उपदेश भगवान के श्रीमुख से समवसरण में मुनिवरों, आर्यिकाओं, श्रावक-श्राविकाओं, देव-देवियों तथा तिर्यञ्चों आदि की बारह सभाओं में आया है। अनेक जीव इसे समझकर आत्मस्वभाव की महिमा-सन्मुख ढलकर अपूर्व धर्म को प्राप्त हुए हैं।

अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों शुद्ध हो गये हैं, उन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान वर्तता है। चार अघातिकर्मों का संयोग शेष है, उनकी भी त्रिकालवर्ती अवस्थाओं का ज्ञान वर्तता है और राग-द्वेष-मोह का सम्पूर्ण अभाव हो गया है। अहो! जो जीव ऐसे अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, उसे केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता। जो आत्मा के सर्वज्ञपद को समझता है, उसे अल्प काल में परमात्मदशा होती ही है।

प्रवचनसार की 82 वीं गाथा में प्रभु कुन्दकुन्द ने कहा है कि **'देकर तथाविध देशना मुक्ति गये हैं — नमन हो।'** भगवान ने स्वयं सर्वज्ञता प्राप्त करने के बाद उपदेश भी ऐसा ही किया है; इस प्रकार यहाँ उपदेशवाले भगवान की बात ली है, अर्थात् यहाँ मुख्यतः तीर्थङ्करों की बात है। तीर्थङ्कर भगवान अप्रतिहत पुरुषार्थवाले होते हैं। उन्होंने स्वयं जिस विधि से केवलज्ञान प्राप्त किया है, उसी विधि का उपदेश अन्य मोक्षार्थियों को दिया है। उनको मेरा त्रिकाल भाव और द्रव्यरूप नमस्कार हो। आहा... हा! यहाँ

www.vitragvani.com



कुन्दकुन्दाचार्य भगवान स्वयं अरिहन्तों को नमस्कार करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं छठवें-सातवें गुणस्थान में आत्मा की चारित्रदशा में वर्तते थे, वे महान सन्त थे।

पहले श्री सर्वज्ञ अरिहन्त भगवन्तों को वाणी में याद किया। अब, श्री सन्तों को याद करते हैं। आज प्रातः भगवान के चारित्र का / दीक्षाकल्याणक का प्रसङ्ग हुआ था, इस कारण वह चारित्र विशेष स्मरण में आता है। देखो, चारित्रदशा और साधुपद कैसा होता है? गणधरदेव भी उस पवित्रता को नमस्कार करते हैं। छठवें गुणस्थान में विकल्प की उत्पत्ति के समय गणधरदेव भी नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, उसमें कहते हैं '**णमो लोए सव्व साहूणं**' – इस प्रकार जिनके चरण में गणधरदेव का नमस्कार पहुँचता है – ऐसा साधुपद होता है।

परमागम श्री षटखण्डागम में नमस्कार मन्त्र मङ्गलाचरण के रूप में है। उसकी धवला टीका में श्री वीरसेनस्वामी कहते हैं कि '**णमो लोए सव्व साहूणं**' पद में जो '**लोए सव्व**' – ऐसे शब्द हैं, वे अन्तदीपक होने से उपरोक्त चारों पदों में भी उनका अर्थ ले लेना। वह इस प्रकार है –

**णमो लोए सव्व अरहंताणं।**
**णमो लोए सव्व सिद्धाणं।**
**णमो लोए सव्व आइरियाणं।**
**णमो लोए सव्व उवज्झायाणं।**
**णमो लोए सव्व साहूणं।**

इस प्रकार इसमें तीन काल के समस्त पञ्च परमेष्ठियों को

www.vitragvani.com



नमस्कार किया है। जो एक क्षण पूर्व साधु हुए हों, उनका भी इसमें समावेश हो जाता है। गणधरदेव प्रत्यक्षत: किसी साधु को नमस्कार नहीं करते परन्तु जब नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब '**णमो लोए सव्व साहूणं**' – ऐसा कहने पर उसमें लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार आ जाता है। हे सन्तों! हे मुनियों!! दो घड़ी में बारह अङ्ग की रचना करनेवाला मैं गणधर तुम्हें नमस्कार करता हूँ – ऐसा विकल्प छठवें गुणस्थान की भूमिका में होता है; तत्पश्चात वन्द्य-वन्दकभाव का विकल्प नहीं होता।

केवलज्ञान के धनी श्री तीर्थङ्कर भगवान तीन लोक के नाथ चैतन्य बादशाह हैं और चार ज्ञान के धनी श्री गणधरदेव उनके बजीर हैं। वे दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की सामर्थ्य रखते हैं। आहाहा...! ऐसे गणधरदेव भी जिन्हें नमस्कार करते हैं, उस साधुपद और चारित्रदशा की कितनी महिमा है! भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को ऐसी उत्कृष्ट चारित्रदशा वर्तती थी। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र के गणधरदेव, सर्व साधुओं को नमस्कार करते हैं उनमें पञ्चम काल के साधु भी साथ ही आ जाते हैं।

यहाँ प्रवचनसार की 82 वीं गाथा में अरिहन्तों को नमस्कार करते हुए श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ! आपने जिस मार्ग से पूर्णदशा प्राप्त की है, वही मार्ग हमें दिखाकर आप मुक्ति प्राप्त हुए हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जिसे गणधरदेव नमस्कार करते हैं – ऐसे साधुपद का धारक मैं, आपको नमस्कार करता हूँ।

'प्रवचनसार' के मङ्गलाचरण में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने गणधरादि सर्व सन्तों को भी नमस्कार किया है। इस प्रकार गणधर

www.vitragvani.com



और मुनिजन, अरिहन्त भगवान को नमस्कार करते हैं। गणधरदेव नमस्कार मन्त्र द्वारा मुनियों को नमस्कार करते हैं और कुन्दकुन्दाचार्यदेव, गणधरादि सन्तों को नमस्कार करते हैं। शुभविकल्प उत्पन्न होने से पर को नमस्कार करने का भाव है। वस्तुतः तो वे उस राग का भी निषेध करके अन्तरोन्मुख होते जाते हैं,वही भाव नमस्कार है।

भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि हे जीवों! तुम स्वतन्त्र हो... स्वतन्त्र हो। द्रव्य से स्वतन्त्र हो, गुण से स्वतन्त्र हो और पर्याय से भी स्वतन्त्र हो; पराधीनता को याद मत करना। तुम्हारा वर्तमान समय तुम्हारे हाथ में है। पूर्व के विकल्प का तो व्यय हो जाता है, अब वर्तमान समय को वर्तमान अवस्था को स्वभावसन्मुख करने में तुम स्वतन्त्र हो। तुम्हारे केवलज्ञान की तैयारी तुम्हारे हाथ में है। तुम अपने परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख होओ। वर्तमान की अपूर्णता का आश्रय मत करो; पूर्व की विकारी पर्याय को याद मत करो क्योंकि उसका तो वर्तमान में अभाव है। संयोग की तरफ मत देखो क्योंकि उसका तो आत्मा में अत्यन्त अभाव है।

स्वभाव के आश्रय का ऐसा उपदेश सुनकर बहुत से पात्र जीव स्व-स्वभावसन्मुख हुए हैं और उन्होंने सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया; बहुत से जीवों ने स्वरूप स्थिरता करके चारित्रदशा प्रगट की। जिनको यहाँ एक-एक करोड़ सुवर्ण मुद्राओं की आमदनी होती हो – ऐसे राजाओं की आठ-आठ वर्ष की राजकुमारियाँ भी भगवान का उपदेश सुनकर – 'अहो! ऐसा मेरा आत्मा!' इस प्रकार स्वभाव की रुचि करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो गयी।

www.vitragvani.com



मेढ़क भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। मेढ़क के भीतर भी आत्मा है न! आत्मा कहाँ मेढ़क के शरीररूप हो गया है? मेढ़क की व्यञ्जनपर्याय छोटी है परन्तु आत्मा के ज्ञान का छोटी-बड़ी व्यञ्जनपर्याय के साथ सम्बन्ध नहीं है। एक जीव पाँच सौ धनुष की व्यञ्जनपर्यायवाला हो और दूसरा जीव सात धनुष की व्यञ्जनपर्यायवाला हो, वे दोनों केवलज्ञान प्राप्त करें तो वहाँ दोनों का केवलज्ञान समान ही होता है। क्षेत्र की विशालता से आत्मा की महत्ता नहीं है परन्तु भाव की मोटाई (विशालता से), अर्थात् अर्थपर्याय से आत्मा की महत्ता है।

किसी को पाँच सौ धनुष की देह होने पर भी विपरीतभाव से मरकर नरक जाता है और किसी का देह छोटा होने पर भी केवलज्ञान पाकर सिद्ध होता है; इसलिए हे भाई! तू शरीर की आकृति का अथवा आत्मा की छोटी-बड़ी व्यञ्जनपर्याय का लक्ष्य छोड़कर, आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप से बड़ा है – उस स्वभाव को देख!

जङ्गल में से बड़े-बड़े सिंह, बाघ और भालू दहाड़ मारते हुए आते हैं और भगवान के समीप आते ही शान्त होकर ठहर जाते हैं तथा वाणी सुनकर अन्तरोन्मुख होकर वे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। महा फणधर सर्प फुँफकार करते हुए आते हैं और अन्तर में ठहर जाते हैं कि अहो! हम तो अमृत स्वरूप हैं। दाड़ में ज़हर भरा होने पर भी भान है कि शरीर मैं नहीं हूँ; मैं तो अमृतमय चैतन्य भगवान हूँ, भगवान का ऐसा प्रताप है – ऐसा निमित्त अपेक्षा से कहा जाता है। वस्तुतः तो वह प्रत्येक जीव की अपनी योग्यता का प्रताप है।

भगवान को पूर्व में छद्मस्थदशा में पूर्ण होने का विकल्प

www.vitragvani.com



था, तब वाणी बँधी थी और जब भगवान पूर्ण सर्वज्ञ हुए, तब सहजरूप से रागरहित अभेद वाणी छूटी; उसमें अभेद स्वभाव की सन्मुखता का उपदेश है। जो जीव अभेदस्वभाव को पकड़ लेता है, वह जीव, भगवान की वाणी को समझा है। अभेदस्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसमें स्थिरता ही जैनशासन है, बीच में पड़नेवाला भेद तथा राग, जैनशासन नहीं है।

साधकदशा में राग का निषेध करके स्वभाव सन्मुख ढलने के लिए राग का ज्ञान होता है परन्तु जो राग होता है, वह जैनशासन नहीं है और वह राग करने का (भगवान का) उपदेश भी नहीं है। रागरहित अखण्ड ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करके रागरहितरूप स्थिरता ही जैनशासन है। वस्तुत: तो राग का निषेध भी नहीं करना पड़ता; स्वभाव सन्मुख एकाग्रता होने पर राग का निषेध हो जाता है। 'राग का निषेध करूँ' – ऐसा विकल्प करने जाए, वहाँ तो राग की उत्पत्ति होती है और उस राग की उत्पत्ति को राग के अभाव का उपाय मानने से मिथ्यात्व होता है; इस कारण अखण्डानन्द स्वभाव की दृष्टि करके उसमें एकाग्र होना ही राग के अभाव का एकमात्र उपाय है।

अन्दर में आत्मा की तैयारी और पात्रता हो तो छोटा-सा मेढ़क भी ऐसे स्वभाव को समझ जाता है और यदि स्वयं आत्मा की पात्रता न हो तो बड़े-बड़े शास्त्रपाठी विद्वान भी नहीं समझते। भगवान किसी को समझा नहीं सकते; भगवान ने तो प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता को प्रसिद्ध किया है। यदि भगवान के कारण कोई समझता हो, तब तो भगवान के द्वारा स्वयं कही गयी स्वतन्त्रता

www.vitragvani.com



ही नहीं रहती। जो जीव अपने अन्दर की पात्रता से जगाकर समझते हैं, वे जीव विनयपूर्वक भगवान में आरोप करके कहते हैं कि अहो नाथ! आपने परम उपकार करके हमको तारा, आपने हमें आत्मा समझाया – परन्तु उनको उस समय भी यथार्थ वस्तुस्थिति में परिज्ञान वर्तता है।

'तेरा ज्ञानस्वभाव है, जगत के सभी पदार्थ अपने-अपने स्वकालानुसार परिणाम रहे हैं; कोई उनमें फेरफार करने में समर्थ नहीं है। तेरे वर्तमान परिणाम तेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध आते हैं। तू अपने वर्तमान परिणाम को स्वद्रव्य के सन्मुख झुकाकर स्वद्रव्य का निर्णय कर ले!' – ऐसा अरिहन्त भगवान का उपदेश सुनकर अपने परिणाम को स्वभाव सन्मुख करके कोई जीव गणधर हुए, कोई मुनि हुए, कोई आर्यिका हुए, कोई सम्यग्दर्शनसहित व्रतधारी श्रावक–श्राविका हुए, कोई सम्यग्दृष्टि हुए और कितने ही जीव मात्र शुभभाव करके ही बाहर निकल गये।

जिस जीव का पूर्व का महाभाग्य हो, उस जीव को ही भगवान के समवसरण में दिव्यध्वनि के सुनने का योग प्राप्त होता है और जिसको वर्तमान अपूर्व पात्रता का पुरुषार्थ हो, उसे ही उसकी रुचि होती है और समझ में आता है। भगवान की वाणी तो अभेद है परन्तु प्रत्येक जीव अपनी पात्रतानुसार समझ जाता है।

भगवान का उपदेश सुनते हुए कोई ऐसा समझता है कि 'भगवान की वाणी में मेरे लिये ऐसा आया कि तू एकावतारी हैं,' 'तू भविष्य में केवलज्ञान पाकर मुक्ति प्राप्त करेगा,' 'तू इसी भव में मोक्ष जाएगा,' 'तू भविष्य में तीर्थङ्कर होगा' – इत्यादि प्रकार में

www.vitragvani.com



सुननेवाले अपनी–अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं और 'भगवान ने आज इस प्रकार कहा' – ऐसा, अपनी समझ का आरोप निमित्त में करके कहते हैं। वाणी में तो सब एकसाथ आता है परन्तु जो श्रोता अपनी योग्यता से जितना समझते हैं, उनके लिए वाणी उतना निमित्त कहलाती है।

जब श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का अपहरण हुआ, तब उस सम्बन्ध में पूछने के लिए यहाँ से नारदजी सीमन्धर भगवान के समीप गये थे, उन्हें वाणी सुनते हुए प्रद्युम्न चरित्र समझ में आया; उसी समय अन्य श्रोताओं में किसी को द्रव्यानुयोग, किसी को चरणानुयोग, किसी को करणानुयोग समझ में आया। वहाँ सब अपनी पात्रता से जो-जो समझे, उस-उस प्रकार से भगवान की वाणी को निमित्त कहते हैं। नारदजी कहते हैं – आज भगवान ने प्रद्युम्न चरित्र कहा; द्रव्यानुयोग समझनेवाला कहता है – आज भगवान ने द्रव्यानुयोग का अपूर्व उपदेश किया; करणानुयोग समझनेवाला कहता है – करणानुयोग कहा और चरणानुयोग समझनेवाला कहता है – आज चरणानुयोग कहा। वहाँ एक साथ उन सबको निमित्त हो, वैसी खास (मुख्य) योग्यता भगवान की वाणी में ही है।

जो जीव, केवली भगवान के उपदेश को समझता है, उसे केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

भगवान की दिव्यध्वनि में एक साथ अनन्त रहस्य आते हैं; वाणी द्वारा कहने में उनका पार नहीं आता, भगवान का आशय समझनेवाला ही पार पा सकता है। ●●

मोक्षकल्याणक प्रवचन 1

# भवक्लान्त जीव का विश्राम

आज श्री जिनमन्दिर में श्री चन्द्रप्रभ और श्री सीमन्धरस्वामी आदि भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई। उनमें से श्री सीमन्धरस्वामी वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में समवसरण में उपदेश देते हैं। उसमें कहते हैं कि 'हे आत्मा! तेरा स्वभाव ही बेहद सुख से भरा हुआ है। सुख अन्तर में है, बाहर में कहीं तेरा सुख नहीं है। जड़–पैसों के ढेर से तेरे आत्मा की महत्ता नहीं है और राग से भी तेरी महत्ता नहीं है। अन्तर में जो परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति स्वभाव है, उससे ही तेरी महत्ता है; तू उसको पहिचान।

जीव ने अनादि से अपने को भूलकर, धनादि में सुख और अपने में सुख नहीं – ऐसा माना है। यह इसकी नपुंसकता है। जैसे, नपुंसक में स्वयं में विषय भोगने की ताकत नहीं है; इसलिए वह दूसरे को विषय भोगते देखकर प्रसन्न होता है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव स्वयं के पुरुषार्थ से रहित नपुंसक है; इस कारण वह पैसा, शरीर, स्त्री इत्यादि में सुख मानता है। वह अपने आत्मिकसुख को नहीं भोगता और पर में सुख मानकर प्रसन्न होता है। मुझमें

www.vitragvani.com



सुख नहीं है, पर में मेरा सुख है – ऐसा मानकर वह अपने आत्मा का अनादर करता है और इसी कारण भवभ्रमण में भटकता है। जिसे उस भवभ्रमण का भय लगा हो, उससे भगवान कहते हैं कि हे जीव! तेरा सुख बाहर में नहीं है, अपितु आत्मा में ही है; अतः तू आत्मा की पहिचान कर।

हे भाई! 'तेरे आत्मा में ही सुख है' – यह बात सुनकर तुझे रुचती है? यदि आत्मस्वरूप रुचता है तो तेरी मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। प्रभु! अनन्त काल में तूने सब कुछ किया है, परन्तु एकमात्र आत्मस्वरूप की समझ कभी भी नहीं की है, इसी कारण तूने अभी तक संसार में परिभ्रमण किया है। जिस आत्मस्वरूप को समझे बिना अनन्त–अनन्त काल से तू दुःखी हो रहा है, उस आत्मस्वरूप को समझना ही धर्म का अपूर्व प्रारम्भ है। अज्ञानी जीव अपनी स्वच्छन्द कल्पना से अन्य प्रकार से धर्म का प्रारम्भ मानते हैं, वह मिथ्या है।

आज यहाँ श्री चन्द्रप्रभ भगवान तथा ऊपर की वेदी में श्री सुपार्श्वनाथ भगवान को पधराये हैं, उनकी पञ्च कल्याणक विधि में आज निर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया गया है तथा स्वाध्याय मन्दिर में ग्रन्थाधिराज भगवान समयसार की प्रतिष्ठा हुई है। उसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य क्या कहते हैं? देखो, मङ्गलाचरण करते हुए वे गाथा–1 कहते हैं कि —

**वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।**
**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥**

**ध्रुव अचल अरु अनुपम गति पाये हुए सब सिद्ध को।**
**मैं वंद श्रुतकेवली कथित कहूँ, समयप्राभृत को अहा॥**

www.vitragvani.com



यहाँ समयसार के प्रारम्भ में ही आचार्यदेव अन्तर में सिद्धदशा का प्रस्थाना (शकुन) करते हैं। पहले तो आत्मा में सिद्धदशा की स्थापना करते हैं, वही वास्तविक समयसार की प्रतिष्ठा है। समयसार माने शुद्ध आत्मा; अपने आत्मा में 'राग वह मैं' – ऐसी मिथ्या मान्यता का अभाव करके 'मैं सिद्ध भगवान के समान ही शुद्ध आत्मा हूँ' – ऐसी प्रतिति करके शुद्ध आत्मा को स्थापना का नाम समयसार की प्रतिष्ठा है।

इस गाथा में आचार्य भगवान का नाद है कि मैं सिद्ध हूँ, तुम सिद्ध हो। वे श्रोताओं से कहते हैं कि हे जीवों! तुम भी सिद्ध हो। तुम्हारे आत्मा में सिद्धपना समा जाए – वैसी सामर्थ्य है। जो ज्ञान, सिद्ध को जानकर अपने में सिद्धपना स्थापित करता है, उस ज्ञान में सिद्ध जितनी ताकत है। जो जीव अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता है, वह जीव, राग अथवा अपूर्णता का आदर नहीं करता तथा मैं पर का करता हूँ, पर मुझे मदद करता है – ऐसा भी नहीं मानता परन्तु स्वयं अपने स्वभावसन्मुख होकर अनुक्रम से सिद्धदशा ही प्रगट करता है और उसके भव परिभ्रमण नहीं रहता।

आत्मा अनादि-अनन्त स्वाभाविक जानने-देखनेवाला पदार्थ है। उसे किसी ने नया नहीं बनाया है और न उसका कभी नाश होता है। यह दृष्टिगोचर शरीरादि पदार्थ जड़ हैं। आत्मा, देह-मन-वाणी से अतीत है। अनादि काल से आत्मा कहाँ रहा? उसने अनादि से अपने स्वरूप को भूलकर अज्ञानभाव से जन्म-मरणरूप परिभ्रमण में ही अपना काल गँवाया है। अनादि काल से संसार परिभ्रमण करता हुआ जीव एक सैकेण्डमात्र भी धर्म को नहीं समझा है। यदि

www.vitragvani.com



जीव, सत्समागम से अपने आत्मा को समझकर धर्म प्रगट करे तो जन्म-मरण का नाश हुए बिना नहीं रहे। जीव ने अनन्त काल में दया, दान, पूजा, व्रत, तप, त्याग इत्यादि सब किया है परन्तु अपना स्वरूप उस राग से भिन्न है – यह कभी नहीं समझा। अनन्त काल से अपना स्वरूप समझे बिना एक के बाद एक जन्म-मरण में अनन्त दु:ख भोगता रहा है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मसिद्धि की पहली ही गाथा में कहते हैं कि —

**जो स्वरूप समझे बिना, पाया दु:ख अनन्त।**
**समझाया उन पद नमों, श्री सद्गुरु भगवन्त॥**

आत्मा की असमझ ही अनन्त दु:ख का कारण है और आत्मा की समझ से ही अनन्त दु:खों का अभाव होता है। आत्मा अपने स्वरूप को समझे बिना ही अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। हे भाई! अब तू अपनी दया कर, दया कर! अब तो सत्समागम से आत्मा को पहिचानकर अपने आत्मा को चौरासी के परिभ्रमण से बचा।

जिसे इस चौरासी के अवतार का भय लगा हो, वह आत्मा की शरण खोजता है। वह अन्तर में ऐसा विचारता है कि अरे रे! क्या भव ही करने का मेरा स्वभाव होगा? अथवा कहीं भवरहित शान्ति होगी? मेरा स्वरूप इस अज्ञानरूप से पुण्य-पाप करके भवभ्रमण में दु:ख भोगना नहीं है। इस प्रकार जिसको अन्तर में भवभ्रमण का त्रास लगा हो, वह जीव अन्तर में चैतन्य की शरण खोजता है। भव एक प्रकार का नहीं; अपितु स्वर्ग, नरक, तिर्यञ्च

www.vitragvani.com



तथा मनुष्य – इन चारों गतियों में जीव ने अनन्त बार अवतार किये हैं। इस लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ जीव जन्मा और मरा न हो। जहाँ आत्मा के सहज आनन्द में सिद्ध भगवान विराजमान हैं, उस क्षेत्र में भी अनन्त बार यह जीव एकेन्द्रियरूप में जन्मा-मरा है।

हे भाई! क्या अब तुझे जन्म-मरण से थकान लगी है? यदि थकान लगी हो तो उस जन्म-मरण से छूटने के लिए चैतन्य-शरण को पहिचानकर उसके आश्रय से विश्राम कर। विश्राम किसे नहीं रुचता? जिसे थकान नहीं लगी हो, वह विश्राम नहीं चाहता परन्तु जिसको अन्तरङ्ग में थकान लगी हो, वह विश्राम खोजता है।

यहाँ अत्यन्त करुणापूर्वक गुरुदेव कहते हैं कि बापू! यदि तू भवभ्रमण से थका हो तो अपने आत्मा में शरण खोज। अपने आत्मा को पहिचानकर उसी की शरण ले; उसके अतिरिक्त बाहर में अन्य कोई तुझे शरणरूप नहीं हो सकता। तूने आत्मस्वरूप को समझे बिना पुण्य भी अनन्त बार किया है, किन्तु वह पुण्य भी तुझे शरणरूप नहीं हुआ; इसलिए अब सत्समागम से आत्मस्वरूप को समझ।

जिस आत्मस्वरूप को तूने अनन्त काल में नहीं समझा, वह आत्मस्वरूप सत्समागम के बिना नहीं समझा जा सकता तथा अपने आप मात्र शास्त्राभ्यास से, स्वच्छन्द से भी वह समझ में आने योग्य नहीं है। वह शुभराग अथवा बाह्य क्रिया से भी समझ में नहीं आता। हे भाई! तू भव से थका है? तुझे आत्मा की कुछ जिज्ञासा जागृत हुई है? यदि भव से डरकर और आत्मा की रुचि

www.vitragvani.com



करके पात्रतापूर्वक एकबार भी सत्समागम करे तो धर्म समझ में आता है। एक सैकेण्ड भी धर्म को समझनेवाले का भव भ्रमण नष्ट हो जाता है।

देखो, यहाँ आचार्य भगवान 'तू पामर है' – ऐसा कहकर प्रारम्भ न करते हुए, श्रोताओं को पहले से ही कहते हैं कि तू सिद्ध है। यह बात तुझे अन्तर में बैठती है? जिसे अन्तर में यह बात बैठती है, उसने अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है, वह अल्प काल में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

हे भाई! तुझे आत्मा का भला करना है न? तो भला करने की पराकाष्ठा क्या? अर्थात् सबसे उत्कृष्ट भला-हित क्या है? यह नक्की कर! हित करने की अन्तिम हद सिद्धदशा है। वह सिद्धदशा कहाँ से आती है? आत्मा के स्वभाव में परिपूर्ण सामर्थ्य भरी है, उसमें से ही वह दशा प्रगट होती है। **इस प्रकार पूर्णता के लक्ष्य से ही साधकपने की शुरुआत होती है।** जैसे, किसी को पाँच सीढ़ियोंवाले पर्वत पर चढ़ना है तो वह तलहटी का लक्ष्य करके नहीं अटकता परन्तु ऊपर के चरम के लक्ष्य से बीच का रास्ता कट जाता है; इसी प्रकार जिसे अपने आत्मा की पूर्ण सिद्धदशा प्रगट करना हो, उसे आत्मा को सिद्धरूप से प्रतीति में लेना चाहिए; अपूर्णदशा अथवा विकार का लक्ष्य करके अटकने से सिद्धदशा नहीं होती।

चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति में आता है कि '**सिद्धाः सिद्धिं मम दीसंतु** अर्थात् हे सिद्ध भगवन्तों! मुझे सिद्धि प्रदान करो।' इस प्रकार स्वयं सिद्धपद की माँग करता है। 'तू सिद्ध है' – ऐसा सुनते

www.vitragvani.com



ही जिस श्रोता के अन्तर में सिद्धपने के भणकार जागते हैं, उसे सिद्ध होने की शुरुआत होती है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरा' – यह बात जिसे रुचती है, उसने आत्मा में समयसार भगवान की स्थापना की है। यह समयसार की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा है।

हे भाई! आचार्य भगवान कहते हैं कि तू सिद्ध है। अपने सिद्धत्व से इंकार मत करना। 'मैं सिद्ध हूँ' – ऐसे उल्लास से हाँ करके सिद्धदशा की ओर चले जाना। तेरी अवस्था में राग होता है, उसका तो आचार्यदेव को पता है; तो भी आचार्य भगवान स्वभावदृष्टि की मुख्यता से तेरे आत्मा में भी सिद्धत्व की स्थापना करते हैं; अतः तू भी स्वभावदृष्टि से 'हाँ' ही करना, अभी राग के सामने मत देखना। जैसे, कोई देश-परदेश जाता हो और तिथि-वार का मेल न हो तो पहले प्रस्थाना (सही तिथि में अपना सामान अन्यत्र रख देना) रखता है और फिर योग्य तिथि-वार आने पर दूसरे गाँव जाता है; इसी प्रकार आत्मा को सिद्धगति में गमन करना है; अभी यहाँ पञ्चम काल साक्षात सिद्धदशा के लिए कुवार (अकाल) है – इस कारण अभी आचार्यदेव ने सिद्धपने का प्रस्थाना (शकुन) कराया है। जिसने ऐसा प्रस्थाना किया, वह अपने पुरुषार्थ का स्वकाल आने पर साक्षात् सिद्ध हो जाएगा।

हे भाई! यदि तुझे इस संसार में से निकलकर सिद्ध में जाना हो तो अभी प्रस्थाना कर कि 'मैं सिद्ध हूँ।'

हे जीव! ज्ञान-दर्शन के सिवाय दूसरा तेरा स्वभाव नहीं है, शरीरादि पदार्थ तुझसे भिन्न जड़ हैं; वे भी जगत के सत् पदार्थ हैं, उनकी हलन-चलनादि क्रियाएँ उनसे ही होती हैं; तथापि उन

www.vitragvani.com



पदार्थों की क्रिया मेरे कारण होती है, मैं होऊँ तो उनकी क्रिया होती है, अन्यथा नहीं होती – ऐसा जो भ्रम है, वह सिद्धदशा में पहुँचने के लिए महाशिलारूप विघ्नकर्ता है। इस भ्रम का अभाव करके आत्मा के सिद्धत्व के स्वीकार बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता और भवभ्रमण से विश्रान्ति नहीं मिलती।

इस काल में भरतक्षेत्र के जीवों को प्रत्यक्ष सिद्धदशा नहीं है परन्तु किन्हीं महान भाग्यवान विरले मुनि को चारित्रदशा प्रगट होती है और 'मैं सिद्ध हूँ – मैं सिद्ध हूँ' – ऐसे आत्मा में प्रस्थाना करके उसके घोलन से-ध्यान से एकावतारी होकर अथवा दो -तीन भव में वे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अपने आत्मा में सिद्धपना स्थापित करके, इस काल में एकावतारी होकर अथवा दो-तीन भव में मुक्ति जानेवाले हो जाते हैं।

आचार्यदेव तो सभी आत्माओं को सिद्धसमान ही देखते हैं क्योंकि स्वयं को सिद्धपने की रुचि है और अल्प काल में सिद्ध होना है। जिसकी जहाँ रुचि होती है, वह वहाँ भाग नहीं पाड़ता, किन्तु अखण्ड मानता है। जैसे, पिता की एक लाख की पूँजी हो और उसके चार पुत्र हों, तो वहाँ प्रत्येक पुत्र कहता है कि 'हमारे पास एक लाख की पूँजी है।' वहाँ चार भाग करके लक्ष्य में नहीं लेते तथा पाँचवी पुत्री हो तो वह भी कहती है कि 'हमारे पास एक लाख की पूँजी है।' इसी प्रकार अन्तर में पूर्ण स्वभावरूप पूँजी है, उसकी जिसको रुचि नहीं है, वह ममतावश बाहर में पूर्णता मानता है। अन्दर में स्वभाव की पूर्णता का लक्ष्य नहीं होने से बाहर में पूर्णता मानकर उससे अपनी महत्ता मानता है परन्तु यदि उस रुचि

www.vitragvani.com



से गुलाँट मारकर स्वसन्मुख झुके तो स्वभाव की पूर्णता को माने और संयोग में अपना अभाव माने।

जैसे, कुँवारी कन्या की सगाई करते ही उसका अभिप्राय बदल जाता है कि जहाँ सगाई हुई है, वह घर और वर मेरा है; यह घर और इस घर की पूँजी मेरी नहीं है; इसी प्रकार जहाँ धर्मी जीव ने अन्तर स्वभाव के साथ सगाई की, अर्थात् उसमें एकत्व किया, वहाँ उसको अन्तरस्वभाव की रुचि होने पर बाहर की रुचि मिट जाती है। राग और संयोग होने पर भी वे मेरे नहीं है, मैं सिद्ध समान हूँ – इस प्रकार धर्मी जीव की दृष्टि पलट जाती है। ऐसी पहिचान और प्रतीति करना ही सिद्धि का पन्थ है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से भव का अन्त नहीं आ सकता है।

अहो! जगत के जीवों को अनादि काल से अपरिचित यह सिद्धि का पन्थ यों ही झटपट समझ में कैसे आ सकता है? अपनी उग्र पात्रता हो तो क्षणभर में समझ में आने योग्य है परन्तु जीवों की पात्रता की कचास के कारण समझने में देरी लगती है। मार्ग की तो अत्यन्त सरलता है परन्तु अनन्त काल से अपरिचित मार्ग, सत्समागम के बिना कैसे समझ में आ सकता है? अभी सत्य मार्ग क्या है? – यह बात ही सुनने न मिलती हो तो वह जीव समझेगा कैसे? सत्समागम से रुचि को बदले तो एक क्षण में बदल जाती है।

पहले से ही आत्मा में सिद्धत्व स्वीकार किये बिना सिद्ध होने का पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं होता। 'मैं पामर हूँ, मैं रागी हूँ' – ऐसा रटा करे तो किसके बल से सिद्धदशा की प्राप्ति का पुरुषार्थ होगा?

www.vitragvani.com



जैसे, किसी को दो घण्टे में चार गाँव दूर जाना हो तो उतनी शीघ्रता से गति करता है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव पूर्ण सिद्ध-समान है, उसे दृष्टि में ले तो पूर्ण सिद्धदशा का पुरुषार्थ कर सकता है परन्तु 'मैं विकारी हूँ, मुझे राग से लाभ है' – इस प्रकार प्रथम से ही विकल्प में अटकते हुए चले तो उसको पूर्णता का पुरुषार्थ नहीं होता परन्तु वह तो राग में ही अटक जाता है।

धर्मी जीव को आत्मा की पहिचान कैसे होती है? – यह बात चल रही है। शरीर-मन-वाणी जड़ हैं – ये तीनों मैं नहीं हूँ; मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ; मेरे स्वरूप में भव और भव के कारणरूप विकार नहीं है – ऐसे भेदज्ञान से ही धर्म का प्रारम्भ होता है और यही मोक्ष का मार्ग है। तथा 'मैं शरीरादि का कार्य कर सकता हूँ, विकार मेरा स्वरूप है' – ऐसी बुद्धि तो अधर्म है और वह संसार का मार्ग है। जैसे, घर में कमरे पर चढ़ने की सीढ़ियाँ अलग-अलग होती है; इसी प्रकार आत्मा में उर्ध्व चढ़ने का, अर्थात् सिद्धदशा का मार्ग अलग है और अधोगति का, अर्थात् नरक, स्वर्गादिरूप चार गति के भ्रमण का मार्ग अलग है। अन्तर में स्वद्रव्य की श्रेणी, वह उर्ध्वगति, अर्थात् मोक्ष का उपाय है और पराश्रयबुद्धि से पुण्य-पाप के भाव, वह अधोगति की श्रेणी, अर्थात् स्वर्ग-नरक का मार्ग है।

अज्ञानी जीव, स्वर्ग को उर्ध्वगति मानते हैं परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि सिद्धगति ही उर्ध्वगति है, इसके अतिरिक्त स्वर्गादिक चारों गति के भव, अधोगति हैं। धर्मी जीव जानता है कि मैं जानने देखनेवाला साक्षी चैतन्य हूँ; ये शरीर-मन-वाणी मेरे नहीं हैं; इस

www.vitragvani.com



प्रकार स्वद्रव्य का अवलम्बन, वह उर्ध्वगति की श्रेणी है।

देखो! यह समझे बिना संसार परिभ्रमण की होली शान्त नहीं होती। पहले तो संसार की रुचि मिटकर स्वभाव की रुचि हो जाना चाहिए। 'रुचि अनुयायी वीर्य' अर्थात् जहाँ रुचि होती है, पुरुषार्थ उस ओर गति करता है। स्वभाव की रुचि होने पर बारम्बार उस तरफ का पुरुषार्थ होते रहना, वह चारित्र का कारण है।

भाई! तू सुन रे सुन! इस बात की अन्तर में कुछ अपूर्वता लाकर सुन! भवभ्रमण करते हुए यह बात अनन्त काल में सुनने को नहीं मिली है। इस बात को समझे बिना तू अनन्त बार नौंवे ग्रैवेयक तक गया, महान राजा भी अनन्त बार हुआ, अनन्त बार नारकी और तिर्यञ्च भी हुआ, परन्तु अन्तर में निराला चैतन्यस्वभाव क्या है? यह बात तूने कभी नहीं समझी और उत्साहसहित कभी यह बात सुनी भी नहीं; मात्र पुण्य में ही सन्तोष मानकर तू संसार में परिभ्रमण करता रहा है, परन्तु पुण्य-पाप के भाव में चैतन्य के धर्म की उत्कीर्णता नहीं होती; धर्म का मार्ग तीनों काल एक ही है।

श्रीमद्जी ने कहा भी है कि —

**एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ।**

जिस प्रकार मिठाई तीनों काल खोपरे, गुड़, घी और आटे से ही बनती है, उसके बदले कभी भी कंकर, पानी और धूल नहीं चलते; इसी प्रकार आत्मा में तीनों काल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता से ही मोक्ष होता है, पुण्य आदि से कभी मोक्ष नहीं होता। देखो, यह तो भगवान के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रीतिभोज में आत्मा के पकवान परोसे जा रहे हैं। बादाम, पिस्ता और लड्डूरूप

www.vitragvani.com



जड़ का भोजन जो सब कराते हैं, परन्तु यहाँ तो आत्मा का अमृत परोसा जा रहा है, उसको चखे तो मोक्षदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

शरीर-मन-वाणी तो परवस्तुएँ हैं; अत: उनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए 'उनकी अनुकूल क्रिया हो तो मुझे ठीक और उनकी प्रतिकूल क्रिया हो तो मुझे अठीक' – ऐसा उनके प्रति मुझे कोई पक्षपात नहीं है। मेरे ज्ञान की उग्रता के पास विकार जल जाए – ऐसा चैतन्यज्योत मेरा स्वभाव है; इस प्रकार पहले अपने स्वभाव की पहिचान करने की बात है। दर्शनशुद्धि के बिना ज्ञान, चारित्र अथवा व्रत-तप त्रिकाल में भी नहीं होते।

धर्मात्मा अन्तर में जानता है कि मैं एक जाननहार हूँ और ये शरीरादि समस्त पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। मैं ज्ञाता और ये ज्ञेय – इसके अतिरिक्त हमारे अन्य कोई सम्बन्ध नहीं हैं। जैसे पुत्र को माता के साथ मातारूप निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी गलत व्यवहार की कल्पना स्वप्न में भी नहीं होती; इसी प्रकार मैं चैतन्यमूर्ति ज्ञायक हूँ और पदार्थ ज्ञेय हैं – इस निर्दोष ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त, मेरा परद्रव्य के साथ अन्य कोई सम्बन्ध स्वप्न में भी नहीं है। मेरा पर के साथ मात्र जानने तक का ही सम्बन्ध है।

जैसे, कोई मनुष्य अन्धेरे में किसी को अपनी स्त्री समझकर विषयबुद्धि से उसके पास गया, परन्तु जहाँ प्रकाश में उसका मुख देखते ही पता चला कि यह तो मेरी माता है, वहाँ एकदम उसकी वृत्ति पलट जाती है कि अरे! यह तो मेरी माता.... !! माता की पहिचान हुई कि तुरन्त ही विकारवृत्ति पलट गयी और माता-पुत्र के सम्बन्धरूप निर्दोषवृत्ति जागृत हुई।

www.vitragvani.com



इसी प्रकार जीव, अज्ञानभाव से परवस्तु को अपनी मानकर उसको इष्ट-अनिष्ट मानता है और उसके कर्ता-भोक्ता का भाव करके विकाररूप परिणमता है परन्तु जहाँ ज्ञानप्रकाश होने पर भान हुआ कि अहो! मेरा तो ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थों का ज्ञेय-स्वभाव है; इस प्रकार निर्दोष ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भान होते ही धर्मी को विकारभाव मिटकर निर्दोष ज्ञायकभाव प्रगट होता है। अस्थिरता के राग-द्वेष होने पर भी, धर्मी के अन्तर में रुचि पलट गयी है कि मैं चैतन्यस्वरूप सबका जाननेवाला हूँ। मेरा अन्य पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायकस्वभाव सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह साधारण एक व्यक्ति की बात नहीं; अपितु वस्तु के स्वभाव की बात है; तीन काल-तीन लोक के केवली भगवन्तों की बात है। यह बात सर्वज्ञ स्वभाव से रजिस्टर्ड हो गयी है। यह बात अनन्त तीर्थङ्कर कह गये हैं, वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धरादि तीर्थङ्कर भगवन्त यही बात कह रहे हैं, गणधर झेलते हैं, इन्द्र आदर करते हैं, चक्रवर्ती आदि महान पुरुष जिसका सेवन करते हैं – ऐसी यह परमसत्य बात है। यह बात तीन काल-तीन लोक में परिवर्तित होनेवाली नहीं है। जगत को यह बात मानने से ही छुटकारा है।

अहो! मेरे ज्ञायकस्वभाव से भिन्न शरीर-मन-वाणी को भी मैं परद्रव्यरूप समझता हूँ, तब जो अत्यन्त भिन्न है – ऐसे दूरवर्ती देव -शास्त्र-गुरु अथवा स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि पदार्थ तो कहीं रह गये। 'शरीरादि मेरे' – ऐसा शास्त्रों में निमित्त के लक्ष्य से भले

www.vitragvani.com



ही कहे, परन्तु मुझे उनका पक्षपात नहीं है, अर्थात् मुझे व्यवहार का पक्ष नहीं है; मैं तो सबके प्रति मध्यस्थ हूँ। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थ मेरे ज्ञेयरूप ही है – इस प्रकार मैं उन पदार्थों का पक्षपात छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करता हूँ। मुझे ज्ञेय पदार्थों का आश्रय नहीं है, अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का ही आश्रय है – ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता ही धर्मात्मा की क्रिया है और उससे ही भवभ्रमण का अभाव होता है।●●

## देहातीत होती है मुनिराज की दशा

जिन्हें अशरीरी ज्ञायक भगवान आत्मा की दृष्टि-ज्ञान और रमणता वर्त रही है - ऐसे निर्ग्रन्थ मुनिराज को 'मात्र देह, वह संयम हेतु होय जब' अर्थात् संयम के निमित्तभूत शरीर है परन्तु शरीर की कुछ पड़ी नहीं है; देहातीत जैसी दशा हो गयी है - ऐसी साधनामग्नदशा की भावना सम्यग्दृष्टि को होती है। श्रावक भी संयम के मनोरथ का सेवन करता है।

अहा! मुनिराज को देह है परन्तु देह की कोई दरकार नहीं है। एक निजात्म-साधना के अतिरिक्त अन्य किसी की उन्हें कुछ पड़ी नहीं है। संघ, शिष्य अथवा संस्था की तो नहीं, परन्तु कदाचित् संयम के हेतुभूत ऐसे शरीर की भी कुछ नहीं पड़ी है। देह होने पर भी जिनकी दशा देहातीत वर्तती है - ऐसी सहजदशा हो जाती है। *( - वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/115 )*

गर्भकल्याणक प्रवचन 2

# भेदविज्ञान की विधि

श्री तीर्थङ्कर भगवान का आत्मा पूर्व में तीसरे भव में आत्मा के भानसहित शुभविकल्प उत्पन्न होने पर तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधता है। वह तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति, तीर्थङ्कर होनेवाले विशिष्ट आत्मा को ही बँधती है। दूसरे जीव शुभराग द्वारा अथवा सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधना चाहे तो नहीं बँधती है।

श्री तीर्थङ्कर भगवान का आत्मा माता के गर्भ में आनेवाला हो, उससे पूर्व छह माह पहले से देव, माता की सेवा करने लगते हैं और कहते हैं कि अहो! रत्नकूखधारिणी माता! आपको धन्य है। छह माह पश्चात् आपके गर्भ में जगत्-उद्धारक त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव आनेवाले हैं। आप भगवान की ही माता नहीं, अपितु जगत् की माता हैं – इत्यादि प्रकार से भक्ति करते हैं और माता-पिता के घर प्रतिदिन रत्नवर्षा करते हैं। छह माह पश्चात् माताजी को सोलह स्वप्न आते हैं और भगवान का जीव उनके गर्भ में आता है। ऐसे गर्भकल्याणक का प्रदर्शन आज यहाँ पञ्च कल्याणक में हुआ है। भगवान का आत्मा, सम्यग्दर्शन तथा मति-श्रुत और

www.vitragvani.com



अवधिज्ञानसहित ही माता के गर्भ में आता है।

भगवान का आत्मा क्या कार्य करने से मुक्ति को प्राप्त हुआ? और अज्ञानी आत्मा क्या कार्य करने से संसार में परिभ्रमण करता है? – यह बात इस समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में चल रही है। समयसार की 71 वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि – धर्मी जीव, आत्मा और आस्त्रवों का भेद जानता हुआ विकार का कर्ता नहीं होता, अपितु अपने स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम को ही करता है; जबकि अधर्मी जीव, आश्रव और आत्मा को एकमेव मानकर विकार का ही कर्ता होता है; परद्रव्य का कर्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई नहीं हो सकता।

श्री तीर्थङ्कर भगवान के आत्मा ने परजीवों का कुछ नहीं किया है परन्तु अपनी आत्मा को विकार से भिन्न जानकर आत्मस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव को ही किया है और वही मुक्ति का उपाय है।

आत्मा क्या कर्म करे तो उसे अधर्म होता है और क्या कर्म करे तो उसे धर्म होता है? – उसकी यह बात है। इस बात को यथार्थरूप से समझे तो अपनी आत्मा में से अधर्म का नाश करके धर्म प्रगट किये बिना नहीं रह सकता।

आत्मा ज्ञानादि स्वभाव की मूर्ति है। अज्ञानी जीव अपनी अवस्था में स्वयं अपराधी होकर विकार करता है और 'वह विकार मेरा कार्य तथा मैं उसका कर्ता' – ऐसा वह मानता है। वह विकार को और आत्मस्वभाव को भिन्न नहीं जानता; इसलिए विकार और आत्मा को एक मानकर उस विकार का कर्ता होता है।

www.vitragvani.com



आत्मा अपनी अवस्था के अतिरिक्त पर में कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में अभाव है। आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है, इसलिए स्वभाव से आत्मा विकार का कर्ता नहीं है तथा आत्मा की अवस्था में विकार किसी दूसरे ने नहीं कराया है परन्तु स्वयं अपने अपराध से विकार किया है। विकारभाव ही मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ – ऐसी विकारबुद्धिवाला जीव, अज्ञानी है।

आत्मा के शुद्ध चिदानन्द ज्ञातास्वभाव में विकार नहीं है परन्तु उस स्वभाव को चूकी हुई दृष्टि में अज्ञानी जीव, विकार का कर्ता होता है। शरीरादि पर मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता – ऐसी पर में कर्ता-कर्म की बुद्धि, वह तो अज्ञान है ही और क्षणिक रागादिभावों का मैं कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है – ऐसी विकार में कर्ता -कर्मपने की बुद्धि भी अज्ञान है। अज्ञान से उत्पन्न हुई विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी को अनादि से चली आ रही है।

अनादि से विकार के कर्ता-कर्म की जो प्रवृत्ति है, उसका अभाव किस प्रकार होता है ? – ऐसा यहाँ शिष्य का प्रश्न है।

श्री आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि –

**जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।**
**णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥ 71॥**

जब यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव को विकार से भिन्न जानता है, तब वह विकार का कर्ता नहीं होता; इसलिए विकार और आत्मा के भेदज्ञान से ही अनादि की विकार की कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का नाश होता है।

www.vitragvani.com



मैं निमित्त इत्यादि परवस्तुओं से सदा भिन्न हूँ; इस प्रकार पर से भिन्नता का निर्णय करने की भी जिसने सामर्थ्य नहीं है, उसमें विकार से भिन्नता का निर्णय करने की सामर्थ्य नहीं होती। कर्म, आत्मा को विकार कराता है – ऐसा माननेवाले को तो कर्म से विकार की भिन्नता का निर्णय भी नहीं है। कर्म मुझे विकार कराता है अथवा पर मुझे विकार कराता है – ऐसा माननेवाले को विकार से आत्मा की भिन्नता का निर्णय करने का अवसर नहीं है, क्योंकि आत्मा की अवस्था में मिथ्यात्व और अज्ञान, पर कराता है – ऐसा उसने माना है; इसलिए 'मैं विकार से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ' – इस प्रकार स्वभाव की सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान करने में उसने अपनी स्वाधीनता नहीं मानी है; इस कारण उसे सच्ची श्रद्धा–ज्ञान प्रगट करने का अवसर नहीं रहा है।

मुझे कर्म इत्यादि परपदार्थ विकार कराते हैं – ऐसे स्थूल अज्ञान की तो यहाँ बात ही नहीं है। पर मुझे विकार नहीं कराता परन्तु मैं अपने अपराध से विकार करता हूँ, 'वह विकार मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ;' इस प्रकार विकार के कर्ता–कर्मपने में जिस जीव की बुद्धि अटकी है, वह जीव भी अज्ञानी है। उस अज्ञान का अभाव कैसे हो ? – यहाँ यह बात चल रही है।

कर्म मुझे विकार कराता है – ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे तो जड़ और चेतन दो द्रव्यों की भिन्नता का भान नहीं है। कर्म, आत्मा को विकार नहीं कराते, इतना मानने के बाद भी, जो जीव शुद्धज्ञानस्वभाव की रुचि छोड़कर पुण्य की रुचि करता है, अर्थात् मैं पुण्य का कर्ता हूँ और इससे मुझे अभी अथवा भविष्य में लाभ

www.vitragvani.com



होगा – ऐसा मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य से धर्म होता है अथवा पुण्य से लाभ होता है – ऐसा माननेवाला जीव, पुण्य को अपना कर्तव्य माने बिना नहीं रहेगा। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की अज्ञान से उत्पन्न हुई विकार के कर्ता–कर्म की प्रवृत्ति का अभाव आत्मा और विकार के भेदज्ञान से ही होता है।

इस जगत् में वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है और 'स्व' का भवन, वह स्वभाव है; इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना, परिणमना – वह आत्मा है और क्रोधादिक का होना, परिणमना – वह क्रोधादि है। इस प्रकार आत्मा और क्रोधादिभावों की भिन्नता का अनुभव होने पर अनादि का अज्ञान मिट जाता है और अज्ञान मिट जाने पर 'मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कर्म' – ऐसी अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता–कर्म की प्रवृत्ति भी नष्ट हो जाती है। इसलिए आत्मा विकार का कर्ता नहीं होता और उसे बन्धन नहीं होता।

यहाँ वस्तु के स्वभाव की बात है कि वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है। आत्मा वस्तु है, वह ज्ञानस्वभाव मात्र ही है। अवस्था में विकार होता है, वह वास्तव में आत्मा नहीं है। दयादि व्यवहारभाव, वे वस्तुतः वस्तु का स्वभाव नहीं हैं, अर्थात् वे आत्मा नहीं हैं; आत्मा तो ज्ञानस्वभाव मात्र ही है। क्रोधादिक अथवा दयादिक भाव होते हैं, वे ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं, इसलिए वे आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा से भिन्न हैं।

वे क्रोधादिक विकारीभाव जड़ की दशा में नहीं होते, किन्तु आत्मा की दशा में होते हैं। **स्वस्य भवनं स्वभावः** अर्थात् विकारभाव, स्ववस्तु के परिणमन में होते हैं, इसलिए उन्हें व्यवहार

www.vitragvani.com



से स्व–भाव कहा जाता है परन्तु वह विकारभाव वस्तु का मूल स्वभाव नहीं है, अपितु परनिमित्त से होनेवाला विकार है; इसलिए उसे परभाव कहते हैं परन्तु वह विकारभाव परवस्तु ने कराया है – ऐसा परभाव का अर्थ नहीं है। आत्मा की अवस्था की योग्यता से विकार हुआ है।

पानी, अग्नि से गर्म नहीं होता परन्तु अपने स्पर्शगुण की उष्ण होने की योग्यता से ही गर्म होता है। पानी की उष्ण पर्याय में अग्नि की पर्याय का अभाव है। इसी प्रकार विकार पर्याय में परवस्तु का अभाव है, इसीलिए परवस्तु विकार नहीं कराती परन्तु अवस्था में विकार होने की विकार की योग्यता से ही विकार होता है, तथापि वह विकार की योग्यता एक समयमात्र की है, त्रिकाली स्वभाव में उसका अभाव है।

जिस प्रकार उष्णतारूप होने का पानी का स्वभाव नहीं है, शीतलरूप हो वही उसका स्वभाव है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा का ज्ञानस्वभाव से परिणमना ही स्वभाव–भवन है; विकार होता है, वह उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान ही है, इसलिए ज्ञानरूप परिणमना ही निश्चय से आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार विकार और आत्मा के स्वभाव से भिन्नता जानकर, विकार हो उसकी रुचिपने नहीं होना परन्तु स्वभाव की रुचि में ज्ञाता–द्रष्टापने की अवस्थारूप होना ही आत्मा का स्वभाव है।

जिसने विकार की रुचि की है, उसे आत्मस्वभाव का अनादर है। विकाररूप परिणमन होता है, उसे यहाँ आत्मा नहीं गिना है। निर्मल ज्ञानभावरूप परिणमन होकर, आत्मा में अभेद हो, वही आत्मा है।

www.vitragvani.com



निमित्त की, व्यवहार की अथवा पर्याय की रुचि, वह मिथ्यात्व है; मिथ्यात्व, वह आश्रव है, वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव से भिन्न है। आत्मा ज्ञानस्वभावी शुद्ध है – ऐसी रुचि का अन्तर में परिणमन होना ही आत्मा है। पुण्य–पापरूप परिणमन होना, वह वास्तव में अनात्मा है। वर्तमान ज्ञानदशा, स्वभाव की तरफ ढलकर अभेद हुई, वहाँ उस द्रव्य–पर्याय की अभेदता को आत्मा कहा है। उसी का नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। ज्ञाता की अवस्था, ज्ञाता में एकमेक हुई, वह धर्म है और ज्ञाता की अवस्था विकार में एकत्व हो, वह अधर्म है।

जो जिससे लाभ मानता है, वह उससे अपने को भिन्न नहीं मानता। जिसने विकार से आत्मा को लाभ माना, उसने विकार से आत्मा को भिन्न नहीं माना, अपितु एक माना है; विकार ही मैं हूँ – ऐसा माना है, इसीलिए उसे विकल्प से भिन्नता करने की सामर्थ्य नहीं है। पहले श्रद्धा में आत्मा को विकल्परहित माने बिना और ज्ञान में आत्मा को विकल्प से भिन्न जाने बिना, विकार से भिन्न किस प्रकार पढ़ेगा? और इसके बिना मुक्ति कैसे होगी? इसलिए पहले विकार से भिन्न ज्ञानस्वभाव को पहचान कर उसकी श्रद्धा करना ही मुक्ति का प्रथम उपाय है, इसके अतिरिक्त दूसरे किसी भी प्रकार से मुक्ति के उपाय की, अर्थात् धर्म की शुरुआत नहीं होती।

आत्मा को पर से, निमित्त से, पुण्य–पाप से अथवा पर्यायबुद्धि से लाभ होता है – ऐसा मानना, वह क्रोधादिभाव है। कोई जीव द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर अहिंसा इत्यादि महाव्रतों का पालन करता

www.vitragvani.com



हो परन्तु यदि वह पुण्य के विकल्प से लाभ मानता हो तो वह आत्मा के स्वभाव के प्रति क्रोध है। **विकार की रुचि और आत्मा के स्वभाव की अरुचि ही अनन्त क्रोध है।** आत्मा के ज्ञानस्वभाव को और विकार को भिन्न पहचान कर, आत्मा की रुचि करके विकार की रुचि छोड़ने से उस क्रोध का अभाव होता है।

यहाँ आचार्यदेव, आत्मा और विकार का भिन्नपना समझाते हैं। जहाँ ज्ञानस्वभाव की रुचिरूप परिणमन हुआ, वहाँ क्रोधादि की रुचिरूप परिणमन नहीं होता, इसलिए ज्ञान का होना, वह क्रोधादिक का भी होना नहीं है तथा क्रोधादि विकार की रुचिरूप परिणमन हुआ, तब उन क्रोधादिक से भिन्न ज्ञान, अज्ञानी को भासित नहीं होता; इसलिए क्रोधादिक का होना, वह ज्ञान का भी होना नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और क्रोध भिन्न–भिन्न है। ज्ञान, वह आत्मा है; क्रोधादि, वह आत्मा नहीं है।

यदि ज्ञानस्वभाव और क्रोधादि विकारीभाव भिन्न–भिन्न न हों तो आत्मा का ज्ञान बढ़ने पर क्रोधादि भी बढ़ना चाहिए तथा क्रोधादि बढ़ने पर ज्ञान भी बढ़ना चाहिए परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। स्व–सन्मुख ज्ञान बढ़ने पर क्रोधादि भाव घटते जाते हैं और क्रोधादि भाव बढ़ने पर ज्ञान घटता है; इसलिए ज्ञान और क्रोध अत्यन्त भिन्न हैं। ज्ञान है, वह क्रोध नहीं है और क्रोध है, वह ज्ञान नहीं है।

मैं त्रिकाली ज्ञाता हूँ और विकार एक समयमात्र का है, वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार जिसे विकारबुद्धि का अभाव होकर स्वभावबुद्धि हुई है, वह धर्मी जीव, ज्ञानरूप से उपजता है। वहाँ ज्ञानरूप से

www.vitragvani.com



उपजते हुए उसे 'मैं स्वभाव में बढ़ता हूँ' – ऐसा ज्ञात होता है परन्तु 'मैं क्रोधादिरूप होता हूँ' – ऐसा उसे ज्ञात नहीं होता। दूसरे प्रकार से कहें तो अभेदस्वभाव सन्मुख की दृष्टि से परिणमते हुए 'रागादि व्यवहार मेरा कार्य है और मैं उसका कर्ता हूँ' – इस प्रकार ज्ञानी को प्रतिभासित नहीं होता। अज्ञानी को 'मैं रागादि व्यवहार का कर्ता और वह मेरा कर्म' – ऐसा अज्ञान से प्रतिभासित होता है।

साधक धर्मात्मा को विकार होने पर भी 'स्वभावसन्मुख जो श्रद्धा–ज्ञान हुए, उनका मैं कर्ता और वह मेरा कर्म' – ऐसा अभेद कर्ता–कर्म प्रतिभासित होता है परन्तु 'क्रोधादि मेरा कर्म और मैं उनका कर्ता' – इस प्रकार उसे ज्ञान के साथ क्रोधादि एकरूप होते भासित नहीं होते – ऐसा जो ज्ञान और विकार का अपूर्व भेदज्ञान है, वही प्रथम धर्म है।

श्री तीर्थङ्कर भगवान, माता के गर्भ में आये, तब से उन्हें ऐसा भेदज्ञान था। इस भेदज्ञान के प्रताप से ही वे केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त हुए। ●●

*( राजकोट शहर में पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर गर्भकल्याणक के दिन समयसार गाथा 71 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, वीर निर्वाण संवत् 2476, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी )*

जन्मकल्याणक प्रवचन - 2

# धर्मी और अधर्मी का कार्य क्या ?

देखो! भगवान के पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय यह गाथा (कर्ताकर्म अधिकार, गाथा – 71) आयी है। यह गाथा आत्मा में मङ्गलदशा का महोत्सव प्रगट करने जैसी है। जो समझे, उसकी दशा में मङ्गलदशारूपी महोत्सव प्रगट होता है।

आज भगवान के जन्मकल्याणक का प्रसङ्ग है। यह सीमन्धर भगवान की प्रतिमा सीधे जयपुर से यहाँ आयी है। इस प्रतिमा को जयपुर से यहाँ लाने की क्रिया को आत्मा ने नहीं किया है परन्तु उस पदार्थ के स्वकाल में उसका क्षेत्रान्तर हुआ है। प्रतिमा का प्रत्येक रजकण उसकी स्वतन्त्र योग्यता की सामर्थ्य से क्षेत्रान्तर हुआ है; आत्मा उसकी क्रिया का कर्ता नहीं है। आत्मा तो अपने ज्ञाता-वीतरागी स्वभाव को चूककर 'यह जड़ की क्रिया मैं करता हूँ और मैं राग करता हूँ' – ऐसा मानकर अपने मिथ्यात्वभाव को उत्पन्न करता है – यह अज्ञानी का कार्य है।

धर्मी ज्ञानी जीव हो तो वह, मैं पर की क्रिया करता हूँ, ऐसा नहीं मानता तथा अपने को स्वभावदृष्टि से क्षणिक राग का कर्ता

www.vitragvani.com



भी स्वीकार नहीं करता। वह तो स्वभावदृष्टि से प्रगट निर्मलपर्याय का ही कर्ता है – यह ज्ञानी का कार्य है।

आत्मा, जड़ का अथवा पर का कुछ कार्य कर सकता है – यह मान्यता तो स्थूल अज्ञान है। यहाँ तो यह मान्यता छूटने के पश्चात्, इसके भी आगे की बात है। विकार मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता; इस प्रकार जो आत्मा का कर्ता-कर्मपना विकार के साथ स्वीकार करता है, वह भी अज्ञानी है। आत्मा, निर्विकार ज्ञायकमूर्ति है, वह विकार का कर्ता नहीं है – ऐसा समझाने के लिए यहाँ तो आचार्यदेव ने विकार को पुद्गल का परिणाम कह दिया है।

यह कर्ता-कर्म अधिकार है। आत्मा कर्ता है, वह क्या कार्य करे तो उसे धर्म हो और क्या कार्य करे तो उसे अधर्म होता है ? – यह बात यहाँ चलती है। कर्ता, अर्थात् होनेवाला, परिणमनेवाला; कर्म, अर्थात् कर्ता का कार्य, परिणाम। किसी भी आत्मा में पर का कार्य करने की शक्ति नहीं है। आत्मा, पर का कुछ नहीं कर सकता क्योंकि जड़ अथवा चेतन सभी तत्व अनादि-अनन्त स्वयं-सिद्ध अपनी-अपनी अवस्था में पलट रहे हैं। जगत के प्रत्येक रजकण की क्रिया स्वातन्त्र उसके स्वयं के कारण हो रही है। आत्मा, शरीर को चला नहीं सकता, स्थिर नहीं रख सकता, भाषा नहीं बोल सकता, कर्म नहीं बाँध सकता, परजीव को मार या बचा नहीं सकता, सुखी-दु:खी नहीं कर सकता, उसे मदद या नुकसान नहीं कर सकता; जीव अपनी अवस्था में मात्र शुभ-अशुभ या शुद्धभाव कर सकता है।

www.vitragvani.com



अज्ञानी ने अनादि से माना है कि जीव एक-दूसरे को सुखी -दुःखी कर सकता है, मैं शरीरादि की क्रिया कर सकता हूँ... परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। किसी में भी पर को सुखी-दुःखी करने की सामर्थ्य है ही नहीं। इस जगत में प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न है; कोई पदार्थ एक-दूसरे पर प्रभाव नहीं डाल सकता।

एक आत्मा है, वह अपने स्वरूप के सद्भावरूप, अर्थात् अस्तिरूप और अन्य अनन्त आत्मा तथा जड़ पदार्थों के अभावरूप, अर्थात् नास्तिरूप टिक रहा है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व अन्य अनन्त पदार्थों के अभावरूप टिक रहा है। एक द्रव्य के स्वरूप से बाहर ही अन्य द्रव्य लोटता है, किसी द्रव्य में कोई द्रव्य प्रविष्ट नहीं होता; अतः एक पदार्थ में दूसरे अनन्त तत्त्व कुछ भी करें – ऐसा तीन काल में भी नहीं होता। वस्तु के द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप है; अतः उनमें तो कुछ करना नहीं। यहाँ द्रव्य-गुण की बात नहीं, पर्याय की बात है; पर्यायें नयी-नयी होती है, वे पर्यायें द्रव्य के आधार से ही होती है। अज्ञानियों को भ्रम है कि नयी-नयी पर्यायें, निमित्त के कारण होती हैं। एक द्रव्य की वर्तमान दशा दूसरे द्रव्य की वर्तमान दशा में कुछ करती है – यह बात अज्ञानी ने मानी है; किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

आत्मा में जो राग-द्वेषादि विकारीभाव होते हैं, वे न तो अजीव हैं और न अजीव में होते हैं; वे आत्मा की अवस्था में ही होते हैं, तथापि यहाँ उन्हें आत्मा से भिन्न वस्तु कहा है क्योंकि वे विकारीभाव, जड़ के लक्ष्य से होते हैं।

www.vitragvani.com



धर्मी की दृष्टि आत्मा के स्वभाव पर है और उस स्वभाव में से विकारभाव नहीं आते; इसलिए उनको जड़-पुद्गलपरिणाम कहकर, उन्हें आत्मा से अन्य वस्तु कहा गया है, परन्तु वे परिणाम कोई पुद्गल में नहीं होते तथा कर्म भी नहीं करता; वे आत्मा की पर्याय में होते है; परन्तु यहाँ तो पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिए उनको आत्मा से अन्य कहा गया है।

जैसे, फूलझड़ी में से तो तरङ्गें खिरते हैं, कोयले में नहीं; इसी प्रकार चैतन्यपिण्ड आत्मा में से ज्ञान-दर्शन के अरागीभाव ही प्रगट होते हैं – ऐसा इसका स्वभाव है परन्तु अज्ञानी को उस स्वभाव की रुचि नहीं है; इस कारण वह बाह्य की रुचि से अपनी अवस्था में विकारभाव प्रगट करता है और उसका कर्ता होता है। धर्मी जीव, स्वभाव की रुचि में विकार का कर्ता नहीं होता।

सम्यग्दर्शन का विषय तो पुण्य-पाप से पार वस्तु (आत्मा) है। जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वे सम्यग्दर्शन के विषयभूत चैतन्य का स्वभाव नहीं है; इसलिए परमार्थ से वे विकारी वृत्तियाँ आत्मा से अन्य है।

आत्मस्वभाव का भान होने पर विकार के साथ भी कर्ता -कर्मपना छूटकर आत्मा, वीतरागी निर्मल अवस्था का कर्ता होता है, इसका नाम धर्म की क्रिया है। इसके अतिरिक्त भगवान के पञ्च कल्याणक कराकर उससे आत्मा का कल्याण माननेवाले को तो आत्मा का भी भान नहीं है। बाहर की क्रियाएँ तो जड़ से होती हैं और शुभराग होता है, वह विकार है; अतः जो यह मानता है कि मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कर्म है, वह भी अधर्मी

www.vitragvani.com



है। परसन्मुखता का, अरे! भगवान की सन्मुखता का शुभराग भी विकार है। जिस जीव को उस राग की रुचि और उत्साह है और शुद्धात्मा की रुचि का अभाव है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि पुण्य-पाप, आत्मा के स्वभाव से अन्य वस्तु है क्योंकि यदि वे अन्य न हों तो उनका अभाव होकर कभी रागरहित सिद्धदशा नहीं हो सकती। सिद्धदशा में पुण्य-पाप के भाव नहीं होते; इसलिए वे आत्मा का वास्तविक कर्तव्य नहीं है।

जीव अनन्त बार त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर परमात्मा के समीप गया और उनके तत्वोपदेश का श्रवण भी किया परन्तु अपनी विपरीत मान्यता का परित्याग नहीं किया, अन्दर से पुण्य की रुचि और उसकी कर्तृत्वबुद्धि नहीं मिटी और आत्मा की रुचि नहीं हुई; इस कारण अपनी विपरीतदृष्टि से विकार की उत्पत्ति हुई और संसार में परिभ्रमण किया। इसलिए कहा है कि 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।' सृष्टि, अर्थात् उत्पत्ति; जैसी दृष्टि होती है, वैसी पर्याय की उत्पत्ति होती है। यदि शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि हो तो पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है और विकार पर दृष्टि हो तो पर्याय में मिथ्यादृष्टि पर्याय की उत्पत्ति होती है।

जिसे विकाररहित अखण्ड चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है और मैं विकार का कर्ता हूँ; विकार, मैं ही हूँ – ऐसी विकार की बुद्धि है, उसको वह विकारबुद्धि छुड़ाने और स्वभावदृष्टि कराने के लिए कहते हैं कि भाई! तू क्षणिक विकार की कर्ताबुद्धि छोड़। तेरा स्वभाव, क्षणिक विकार जितना नहीं है। सर्व प्रथम अपने यथार्थ वस्तुस्वभाव को ख्याल में लेना चाहिए, उसकी रुचि और

www.vitragvani.com



विश्वास करना चाहिए। यथार्थ वस्तु के भान बिना ज्ञान को स्थिर कहाँ करेगा ? और किसकी शरण लेकर धर्म करेगा ?

धर्मी को भी निचलीदशा में पुण्य-पाप के भावों की उत्पत्ति होती है परन्तु उसे उन भावों की मुख्यता भासित नहीं होती। उसे तो स्वभाव की मुख्यता की दृष्टि में विकार का अभाव ही भासित होता है। स्वभावसन्मुखता की मुख्यता के अभाव में तो साधकदशा ही नहीं रहती। यदि एक समय के लिए भी स्वभावसन्मुखता की मुख्यता मिटकर विकार की मुख्यता हो जाए तो वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

जिसे शुभभाव की उत्पत्ति के समय पुण्य की ही मुख्यता भासित हो और स्वभाव की मुख्यता भासित न हो तो उसे स्वभाव से अन्य वस्तु, अर्थात् जड़कर्म की उत्पत्ति होती है। धर्मी जीव को तो उस राग की अल्पता को गौण करके, शुद्ध त्रिकाली स्वभाव की मुख्यता है, वह सम्यग्दर्शन है और उसको स्वभाव की मुख्यता में प्रतिक्षण निर्मल दशा की उत्पत्ति हुआ करती है – यह धर्मी का धर्म कर्तव्य है।

छह खण्ड के राज्य और छियानवैं हजार स्त्रियों के समूह में स्थित सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती को अन्तर में एक क्षण भी स्वभाव की मुख्यता नहीं छूटती है और विकार की मुख्यता नहीं होती है। वर्तमान किसी भी पर्याय में 'मैं शुद्ध स्वभाव हूँ' – ऐसा झुकाव एक क्षण भी मिटता नहीं है; अत: उसे प्रति समय निर्मलपर्याय की उत्पत्तिरूप धर्म होता है।

इस प्रकार आत्मा और आस्रव का भेद / अन्तर देखने से ही,

www.vitragvani.com



अर्थात् भेदविज्ञान से ही धर्म होता है।

मैं क्षणिक राग जितना नहीं, किन्तु रागरहित ज्ञातास्वरूप हूँ – ऐसी सन्मुखता में स्वसन्मुख दृष्टि होने पर विकार की मुख्यता भासित नहीं होना, वह सम्यग्दर्शन है। पहले पात्र होकर अन्तर की स्वीकृतिपूर्वक इस बात का बारम्बार श्रवण करना चाहिए।

हे जीव! सत्समागम से सत्य का श्रवण करके एक बार यथार्थ रुचि से हाँ कर। सत्स्वभाव की 'हाँ' करने से उसकी 'लत' लगने से 'हाँ' में से 'हालत' हो जाएगी। जैसा अपना स्वभाव है, उसकी रुचि करके हाँ करने से वैसी हालत प्रगट हो जाएगी। सत्स्वभाव की हाँ कर तो सिद्धदशा होगी और सत्स्वभाव की ना करके उसका अनादर करने से नरक-निगोददशा होगी। सत्य वस्तुस्वभाव को लक्ष्य में लेकर रुचिपूर्वक उसकी 'हाँ' करने में भी अपूर्व पात्रता है।

क्रोधादि अशुभभाव अथवा दयादि शुभभाव – ये दोनों आस्रव हैं, जीव के स्वभाव से भिन्न है। 'मैं शरीरादि पर कर्ता' – यह बुद्धि तो बहुत स्थूल अज्ञान है परन्तु 'मैं क्रोधादि विकार का कर्ता और क्रोधादि मेरा कर्म' – ऐसी कर्ताकर्मपने की बुद्धि भी अज्ञान से उत्पन्न होती है। अज्ञानी को अनादि से यह कर्ता-कर्मपने की प्रवृत्ति चली आ रही है और वही अधर्म व संसार का मूल है। वह कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति कब मिटे? – यह बात यहाँ आचार्यदेव ने समझाई है। क्रोधादिभावों का और आत्मा का निश्चय से एक वस्तुपना नहीं है, दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार जब जीव, आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान करता है, तभी अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है।

www.vitragvani.com



क्रोधादि भाव, आत्मा से भिन्न वस्तु है – ऐसा कहकर यहाँ क्रोधादि भावों को भी 'वस्तु' क्यों कहा ? क्योंकि उस क्रोधादि अवस्था में वीतरागी अवस्था की नास्ति है। उस एक अवस्था में अन्य अनन्त अवस्थाओं की नास्ति है और उस अवस्था की स्वपने अस्ति है – ऐसा उसका अस्ति-नास्ति स्वभाव है; इस कारण वह भी वस्तु है। वह त्रिकाली द्रव्यरूप वस्तु नहीं, किन्तु क्षणिक पर्यायरूप वस्तु है। विकार, विकारपने है और स्वभावपने नहीं है; जड़कर्मपने नहीं है, अर्थात् स्वस्वरूप में उस विकार की अस्ति और अन्य अनन्त पदार्थोंपने नास्ति – ऐसे अनन्त धर्म उसमें सिद्ध हुए। एक द्रव्य के अनन्त गुण और उन एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें, उस एक-एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद और एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद अंश में अन्य अनन्त अविभाग अंश की नास्ति है, अर्थात् एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद अंश में अनन्त धर्म है।

यहाँ आत्मा का और क्रोधादि आस्रवों का भिन्न-भिन्न स्वभाव बताकर आस्रवों को आत्मा से भिन्न वस्तु सिद्ध किया है। अतः इस प्रकार जानकर, आत्मस्वभाव के सन्मुख ढलने से आस्रवों का निषेध हो जाता है। आत्मस्वभाव के सन्मुख ढलने पर विकार का नाश करना नहीं पड़ता, अपितु हो जाता है। आत्मा, स्वभावदृष्टि में न तो विकार का करनेवाला है और न छोड़नेवाला ही है। आत्मा पर का ग्रहण-त्याग तो करता ही नहीं परन्तु वस्तुतः आत्मा के स्वभाव में विकार का ग्रहण-त्याग भी नहीं है। प्रत्येक आत्मा में 'त्यागोपादान शून्यत्व' नाम की शक्ति त्रिकाल है; अतः आत्मा, स्वभाव से विकार का ग्रहण या त्याग नहीं करता।

www.vitragvani.com



जिसे ऐसी बुद्धि है कि 'मैं विकार का करनेवाला हूँ', वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, परन्तु 'मैं विकार को छोड़ू' – ऐसे लक्ष्य से विकार नहीं छूटता, बल्कि विकार की उत्पत्ति होती है; तथापि इसे विकार के नाश का उपाय माननेवाला जीव, पर्यायबुद्धि है। 'मैं विकार अभाव करूँ' – ऐसे लक्ष्य से भी विकार होता है और जीव मानता यह है कि मैं विकार का अभाव करता हूँ; अतः उसने विकार के लक्ष्य से लाभ माना, इसलिए वह जीव मिथ्यादृष्टि है। मेरा चैतन्यस्वभाव विकार से भिन्न है; इस प्रकार ज्ञान से भेद करके आत्मस्वभाव के सन्मुख ढलने से विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती। स्वभावसन्मुख ढलने पर आत्मा और विकार की भिन्नतारूप परिणमन सहज ही हो जाता है।

धर्मी जीव, राग को जानता है परन्तु 'मैं राग हूँ', इस प्रकार वह राग का कर्ता नहीं होता। वह राग के सन्मुख होकर राग को नहीं जानता, किन्तु स्वभाव के सन्मुख होकर राग को जान लेता है। स्वभावसन्मुख ढलते हुए स्व को तथा विकार को – पर को जाने – ऐसी स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति प्रगट होती है; इस कारण उसमें पर का ज्ञान हो जाता है परन्तु वह परसन्मुख होकर पर को जानने नहीं जाता।

देखो! इसमें बहुत न्याय आ जाते हैं। स्वसन्मुख होने पर जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिला, वह ज्ञान, स्व को जानते हुए पर निमित्त कैसे थे, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं? – उन्हें भी यथार्थरूप से जान लेता है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि —

www.vitragvani.com



**तत्प्रति प्रीति चित्तेन येन वार्ताऽपि ही श्रुता**
**निश्चितं सद्भवेद्भव्यो भावि निर्वाण भाजनम्॥**

**अर्थात्** जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से आत्मस्वभाव की बात सुनी है, वह जीव भविष्य में होनेवाली मुक्ति का अवश्य भाजन / पात्र होता है।

यहाँ 'श्रुता' अर्थात् 'सुनी है' – ऐसा कहने में सूक्ष्म न्याय है। सुनना कहने पर सुनानेवाले निमित्त कैसे होते हैं ? उसका ज्ञान भी आ जाता है। स्वयं जागृत होकर (स्वभाव का) भान करे तो वहाँ सामने कैसा निमित्त था, कैसे देव-शास्त्र-गुरु निमित्तरूप हो सकते हैं ? – उसका भी यथार्थ ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। – ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव है।

देखो भाई ! यह बात सूक्ष्म है परन्तु इसे समझने की सामर्थ्य प्रत्येक द्रव्य में है। प्रत्येक आत्मा, सिद्ध भगवान के समान है – ऐसा विश्वास लाकर उत्साहपूर्वक वाँचन और श्रवण करना चाहिए। 'मुझे समझ में नहीं आता' – ऐसी हीन मान्यता का परित्याग कर देना चाहिए। भगवान आचार्यदेव ने समयसार की पहली गाथा में ही आत्मा में सिद्धपना स्थापित किया है कि मैं सिद्ध हूँ और तू सुननेवाला भी सिद्ध है। हम तेरे ज्ञान में, तेरे आत्मा का सिद्धपना स्थापित करते हैं; इसलिए तू भी यह बात अपने ज्ञान में बैठाकर प्रथम बार में ही सिद्धपने की हाँ कर! **पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत ही वास्तविक शुरुआत है।** पहले से ही आत्मा को सिद्ध जैसा ही स्थापित करके बात की है। ऐसे वास्तविक वस्तुस्वभाव के भान बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। ●●

दीक्षाकल्याणक प्रवचन - 2

# भगवान की दीक्षा और मुनिदशा

आज भगवान के दीक्षाकल्याणक का महोत्सव है। मैं आत्मा अनन्त ज्ञान-आनन्द का पिण्ड शुद्धस्वरूपी हूँ, पुण्य-पाप के विकारीभाव मेरा स्वरूप नहीं है और मैं शरीर के रजकणों से त्रिकाल भिन्न हूँ – ऐसा सम्यक्भान तो भगवान को पूर्व भवों में हुआ था। आत्मा का भान होने के बाद ही तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है। तीर्थङ्कर भगवान का आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान लेकर ही माता के गर्भ में आता है। भगवान को ऐसा भान था कि मैं चिदानन्दस्वरूप ज्ञाता हूँ, पुण्य-पाप के भाव आस्रव और अशरण है, वे मुझे शरणभूत नहीं है; मेरा अनन्त शुद्धस्वभाव ही मुझे शरणरूप है। पूर्व भव में ऐसा भान होने के पश्चात् कोई शुभराग हुआ कि 'मैं पूर्ण होऊँ और जगत् के जीव धर्म प्राप्त करें' – ऐसे शुभराग से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध हुआ।

तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध, आत्मा के धर्म का फल नहीं है; बल्कि राग का फल है और राग तो विकार है। आत्मस्वभाव में

www.vitragvani.com



वीतरागीरूप स्थिरता नहीं होने पर राग उत्पन्न होता है, उस राग के फल में तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है। भगवान का आत्मा तो सम्यग्दृष्टि था। तीर्थङ्करनामकर्म की प्रकृति तो जड़ है और उस तीर्थङ्करनामकर्म के कारणरूप जो शुभपरिणाम हुआ, उसका आदर भी सम्यग्दृष्टि को नहीं है। सम्यग्दृष्टि को अन्तरस्वभाव की दृष्टि से स्वरूप के सहज आनन्द की मस्ती में वर्तते हुए बीच में राग के कारण तीर्थङ्करनामकर्म बँध जाता है; धर्मी को उसका आदर नहीं है, उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है।

पञ्च कल्याणकवाले तीर्थङ्कर, जिस भव में तीर्थङ्करनामकर्म बाँधते हैं, उसी भव से मुक्ति प्राप्त नहीं करते; अपितु तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो महाविदेहक्षेत्र में तीन कल्याणकवाले तीर्थङ्कर होते हैं, वे जिस भव में तीर्थङ्करनामकर्म बाँधते हैं, उसी भव में मुक्ति पाते हैं। भगवान ने तीन भव पूर्व तीर्थङ्करनामकर्म बाँधा था और माता के गर्भ में भी सम्यग्दर्शन व मति-श्रुत-अवधि – इन तीन ज्ञानसहित थे, उन्हें रागरहित आत्मस्वभाव का भान था परन्तु पर्याय की कमजोरी के कारण राग अवशिष्ट रहने से अवतार / जन्म हुआ।

यहाँ चन्द्रप्रभ भगवान ने पञ्च कल्याणक हो रहे हैं। भगवान कितने ही काल तक तीन ज्ञानसहित गृहस्थाश्रम में रहे, वहाँ भगवान भावना भाते थे कि —

**अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा...**
**कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब...**
**सर्व सम्बन्ध का बंधन तीक्ष्ण छेदकर,**

www.vitragvani.com



**विचरुँगा कब महंत पुरुष के पंथ जब... ?**
**अपूर्व..... ॥**

भगवान को अन्तर में अपूर्व आत्मभान वर्तता है, तीन ज्ञान के धारक हैं, वे अन्तर में परम वीतरागीदशा को धारण करने की भावना करते हैं।

अहो! निजस्वरूप का ध्यान करके केवलज्ञान प्रगट करुँ – ऐसी भावना भगवान भाते थे। अन्तर में आत्मा का भान होने के बाद राग-द्वेष और परिग्रह हो, वहाँ तक श्रावकदशा होती है परन्तु मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा तो अन्तर में विशेष लीनता द्वारा राग-द्वेष मिटकर बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती दशा प्रगट होने पर ही होती है – ऐसी अनादि सन्तों की दशा है। अहो! वह दशा कब आयेगी ? ऐसी भगवान को भावना थी।

अन्तर में स्वरूप लीनता के आनन्द में रागादि का अभाव तथा बाह्य में वस्त्र के एक धागेमात्र का भी अभाव – ऐसी वीतरागी मुनिदशा होती है। यदि वस्त्र का एक धागा भी ग्रहण करने का लक्ष्य हो तो वह मुनिदशा में बाधक है। इसी कारण उस दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं —

**उदासीन वृत्ती हो सब परभाव से,**
**यह तन केवल संयम हेतु होय जब।**
**किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,**
**तन में किञ्चित भी मूर्छा नहिं होय जब॥**

चारित्रदशा में ऐसा उदासीनभाव प्रगट होता है कि मात्र देह के

www.vitragvani.com



अतिरिक्त किसी परिग्रह के प्रति लक्ष्य नहीं जाता और देह भी संयम के हेतु से और मूर्च्छारहितरूप से ही होती होने से वह परिग्रह नहीं है।

जिनका जन्मोत्सव इन्द्रों द्वारा मनाया गया है, उन भगवान को भी अन्तरङ्ग में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता – ऐसा स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी आत्मा की राग-द्वेषरहित दशा हो और बाह्य में माता ने जैसा जन्म दिया, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो गयी हो – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हुआ होने पर भी, बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादिक का सम्बन्ध रहे – ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज (दीक्षाकल्याणक में) ऐसी दशा अङ्गीकार की है।

भगवान को पञ्च महाव्रत अङ्गीकार करने का शुभविकल्प होने पर भी, उस शुभराग के प्रति उनको उदासीनता वर्तती है। अहो! आत्मानुभव में लीनतारूप संयमदशा प्रगट होने पर शरीर के अतिरिक्त अन्य परिग्रह नहीं होता है। शरीर भी बिना ममत्व के होता है – ऐसी दशा प्रगट करके कब केवलज्ञान प्रगट करूँ? – ऐसी भगवान की भावना थी।

भगवान को मुनि होने से पूर्व जातिस्मरणज्ञान हुआ था और वे वैराग्यभावना भाते थे कि हमने ज्ञायकमूर्ति आत्मा को दृष्टि -प्रतीति में तो लिया है, अब उस चिदानन्दस्वभाव की भावना करके, उसकी लीनता में कब विचरूँगा? – ऐसी अन्तर भावना प्रगटे बिना मुक्ति या मुनिदशा नहीं होती।

www.vitragvani.com



संसार में गृहस्थदशा में रहते-रहते किसी को केवलज्ञान हो जाए अथवा मुनिदशा प्रगट हो – ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। गृहस्थदशा में अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकदशा हो सकती है। तत्पश्चात् अन्तर स्वरूप में विशेष लीनता होने पर छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होने के समय तो बहुत राग-द्वेष छूट जाते हैं और बाह्य संयोग भी स्वयं छूट जाते हैं। आत्मा उन बाह्य संयोगों को नहीं छोड़ता है और वे न छूटे ऐसा नहीं होता – ऐसा सहज मार्ग है। मोक्षमार्ग में ऐसी सहज मुनिदशा होती। कोई मुनिदशा का स्वरूप अन्य प्रकार से माने अथवा मनवावे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

अन्तर में अर्थात् आत्मा की दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागता प्रगट हुए बिना अकेली बाह्य निर्ग्रन्थता में अथवा पञ्च महाव्रत में मुनिदशा नहीं है तथा अन्तर में भाव निर्ग्रन्थता प्रगट हो, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगट हो और बाह्य में वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थता न हो – ऐसा कभी नहीं होता है। इस सम्बन्ध में बादाम का दृष्टान्त आता है – जैसे, बादाम का ऊपर का छिलका निकल जाने पर भी अन्दर का छिलका नहीं निकला हो – ऐसा हो सकता है परन्तु बादाम के अन्दर का छिलका निकल जाए, वहाँ ऊपर का छिलका नहीं निकले – ऐसा कभी नहीं होता। बाह्य वस्त्रादि तो ऊपर के छिलके के समान हैं और अन्दर के राग-द्वेष अन्दर के लाल छिलके के समान हैं।

भगवान को बहुत वर्षों तक कर्म के ज़ोर के कारण गृहस्थदशारूप रहना पड़ा – ऐसा नहीं है परन्तु अपनी स्वयं की

www.vitragvani.com



पर्यायगत योग्यता से भगवान गृहस्थ अवस्था में रहे थे। तत्पश्चात् भगवान को वैराग्य होने पर उन्होंने अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ भायीं थी।

वास्तव में अनित्यभावना किसे कहना? शरीर अनित्य है, राग अनित्य है – ऐसी भावना तो क्षणिक शुभराग है, वह वास्तव में अनित्यभावना नहीं है। अनित्यता के आश्रय से वास्तविक अनित्यभावना नहीं होती परन्तु शरीर और राग अनित्य है, मैं उनसे भिन्न नित्य ज्ञानानन्दमय हूँ – इस प्रकार नित्यानन्द आत्मस्वभाव की सन्मुखता की दशापूर्वक शरीरादि को अनित्य जानने का नाम अनित्यभावना है, अर्थात् अनित्य आदि भावनाओं में आश्रय तो निज ज्ञानानन्दस्वभाव का ही है।

ज्ञानानन्द चैतन्यज्योति दीपक नित्य प्रकाशित है, उसकी भावना बिना 'शरीर अनित्य है' – ऐसी परलक्ष्यी भावना करके, दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर जीव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक तक गया है, परन्तु उसकी इस भावना की सम्यक् अनित्यभावना नहीं कहते हैं। अन्तर में आत्मानुभव के बिना सच्चा त्याग अथवा सच्ची भावना नहीं होती। भगवान ने तो नित्य और शरणभूत चैतन्यस्वभाव के सन्मुख झुकावपूर्वक अनित्य, अशरण आदि भावनाएँ भायीं थी। जितने भी तीर्थङ्कर होते हैं, वे सभी वैराग्य के समय ऐसी भावनाएँ भाते हैं। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान तीर्थङ्कररूप में विराजमान हैं, उन्होंने भी दीक्षा के समय ऐसी भावनाएँ भायी थीं और इन चन्द्रप्रभ भगवान ने भी यही भावनाएँ भायीं थीं।

www.vitragvani.com



मैं एक भी विकल्प का कर्ता नहीं हूँ, मैं तो त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति हूँ – ऐसी नित्य ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुई है, तत्पश्चात् पुण्य-पाप अनित्य है – ऐसी अनित्यभावना होती है। धर्मात्मा को पञ्च महाव्रत अङ्गीकार करने का व वस्त्रादि के परित्याग का विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु अन्तर में उस विकल्प अथवा पर का स्वामीपना नहीं होता।

मुनिदशा होने पर सहज निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं, किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है।

**कोई कहे** कि 'वस्त्र होवे तो क्या बाधा है ? क्योंकि वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को रोकता है ?'

इसका **समाधान** यह है कि वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को नहीं रोकता – यह बात तो सत्य है, परन्तु वस्त्र के ग्रहण की बुद्धि ही मुनिपने को रोकनेवाली है। मुनियों को अन्तर की रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज हो गयी है कि उन्हें वस्त्र के ग्रहण का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता है।

मैं, नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव ही मुझे शरणभूत हूँ और शरीरादि अशरण है – इस प्रकार अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तवन करके तत्पश्चात् भगवान, वीतरागी जिनदीक्षा धारण करते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना मोक्षमार्ग पूर्ण नहीं होता। उन्हें रागरहित चिदानन्दतत्त्व का भान तो था, तो भी अभी तक राग में रहे। अब तो 'चिदानन्द की मस्ती में लीन रहूँगा' – इस प्रकार भगवान, स्वभाव की भावना करते थे और अब तो दीक्षा

www.vitragvani.com



लेकर राग तोड़कर आत्मा के आनन्द की मस्ती में लीन हो गये। चारित्र तो आत्मा के आनन्द में झूलती दशा है, उस दशा में दु:ख नहीं; बल्कि अन्तर में आत्मा की अतीन्द्रिय शान्ति का मधुररस है।

मूढ़ जीव ऐसा मानते हैं कि भगवान को चारित्रदशा में बहुत दु:ख पड़ा। अहो! जो वीतरागी चारित्र, दु:ख के नाश का कारण है, मूढ़ जीव उस चारित्र को दु:खदायक मानते हैं। बहुत उपवासादि होने में भगवान को दु:ख नहीं था, क्योंकि चारित्रदशा में आत्मा के सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द में लीन होने पर आहार की वृत्ति नष्ट हो जाती है और आहार स्वयं छूट जाता है – इसका नाम उपवास है। आत्मा के भान बिना किया जानेवाला लंघन, उपवास नहीं कहलाता है।

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? – इसका भी लोगों को भान नहीं है। जब गणधरदेव भी नमस्कार मन्त्र बोलते हैं तो समस्त मुनियों के चरणों में उनका नमस्कार पहुँचता है। **'णमो लोए सव्व साहूणं'** – इस पद द्वारा समस्त मुनियों के चरणों में गणधरदेव का नमस्कार पहुँचता है तो वह मुनिदशा कैसी होगी? तीन लोक के नाथ महावीर भगवान के प्रधान, सीमन्धर भगवान के प्रधान, अनन्त तीर्थङ्करों के धर्म वजीर–गणधरदेव, जब शुभराग के समय णमोकार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरण में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! जिसे गणधरदेव नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा!! गणधरों में दो घड़ी (एक अन्तर्मुहूर्त) में बारह अङ्ग की रचना की सामर्थ्य है; वैसी सामर्थ्य भले ही अन्य मुनियों में न हों तो भी जो चारित्रदशा प्रगट करके आत्मा में लीन हुए – ऐसे आठ

www.vitragvani.com



वर्ष की उम्र के, दो घड़ी पहले साधु हुए मुनियों को भी गणधर का नमस्कार आ जाता है।

आठ वर्ष का राजकुमार तत्काल मुनि हुआ हो और गणधर तो लाखों वर्ष पूर्व मुनि हो गये हों तो भी कहते हैं कि 'सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।' उसमें नवदीक्षित आठ वर्ष का साधु राजकुमार भी आ जाता है। गणधर कहते हैं कि **जिनमें हमारा नमस्कार झेलने की सामर्थ्य प्रगटी हो, उन्हें हम साधु कहते हैं।** ऐसे सन्तों का चारित्र आनन्दमय है, सन्त दु:खी नहीं हैं।

सन्तों को बाह्य प्रतिकूल संयोगों का दु:ख नहीं है क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शी है, वह पर संयोग का स्पर्श नहीं करता; इसलिए उसको संयोग का दु:ख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तरस्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है – आनन्द का अनुभव हुआ है और तत्पश्चात् विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई, उसमें परम आनन्द की वृत्ति बढ़ गयी है। भगवान, वन में अकेले रहने के कारण दु:खी नहीं थे; भगवान तो अन्तर के चैतन्यवन में आनन्द की मौज करते थे। वस्तुत: तो भगवान वन में रहे ही नहीं थे, भगवान तो शरीर में भी नहीं रहे थे, पञ्च महाव्रत के विकल्प में भी भगवान नहीं रहे थे; भगवान तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

भगवान ने सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके जिनदीक्षा अङ्गीकार की और दीक्षा के बाद आत्मध्यान में लीन हुए कि तुरन्त ही चौथा मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ – ऐसा दीक्षाकल्याणक का

www.vitragvani.com



प्रसङ्ग अभी हुआ है। अब भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का प्रसङ्ग होगा, उस समय भगवान ने दिव्यध्वनि में क्या कहा – यह कहा जाएगा।

जिस प्रकार आज चन्द्रप्रभ भगवान, चारित्र की भावना करके मुनि हुए हैं; उसी प्रकार सभी जीवों को सम्यग्दर्शनसहित ऐसी चारित्रदशा की भावना करने योग्य है। ●●

## हम तो मुनियों के दासानुदास हैं

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। **दिगम्बर साधु अर्थात् साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं!** अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात? **ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं।**

*( - गुरुदेवश्री के वचनामृत, 142, पृष्ठ 90 )*

ज्ञानकल्याणक प्रवचन - 2

# दिव्यध्वनि में स्वतन्त्रता का उपदेश

चैतन्यमूर्ति शुद्ध परिपूर्ण आत्मस्वभाव का भान करके, फिर उसी में लीन होने पर सर्वज्ञ परमात्मदशा प्रगट होती है। भगवान सर्वज्ञदेव अपने ज्ञान में तीन काल-तीन लोक को एक समय में प्रत्यक्ष स्पष्ट भिन्न-भिन्न जानते हैं। उनके द्वारा ज्ञान में जैसा वस्तुस्वरूप जाना गया है, वैसा ही दिव्यध्वनि द्वारा कहा गया है। 'मैं उपदेश करूँ' – ऐसी इच्छा भगवान के नहीं होती है, इच्छा के बिना ही सहजरूप से सर्वाङ्ग से दिव्यध्वनि खिरती है। जहाँ तक इच्छा होती है, वहाँ तक दिव्यध्वनि नहीं होती, बल्कि क्रम और भेदवाली वाणी होती है। इच्छा का अभाव होकर सर्वज्ञदशा प्रगट होने के बाद अभेदवाणी होती है।

तीर्थङ्कर भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्र, केवलज्ञान कल्याणक का महोत्सव करते हैं, समवसरण की रचना करते हैं; उसमें बारह सभाएँ भरती हैं और भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है। उस दिव्यवाणी में भगवान ने जो उपदेश किया, वह बात यहाँ चलती है।

www.vitragvani.com



यह विश्व, चेतन और अचेतन पदार्थों से रचित है। अनन्त आत्माएँ हैं, वे चेतन हैं और आत्मा के अलावा पाँच अचेतन द्रव्य हैं। ये सभी सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष भासित और वाणी द्वारा कथित हैं। ये छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। कोई द्रव्य किसी अन्य का कुछ कर सके – ऐसा भगवान की वाणी अथवा ज्ञान में नहीं आया है।

भगवान ने स्वाश्रयभाव प्रगट करके अपने आत्मा में सर्वज्ञता प्रगट की है। भगवान ने पर के लिए कुछ नहीं किया है। भगवान पर की कोई सहायता नहीं करते क्योंकि अन्य जीव ऐसा पराधीन नहीं है कि उसे दूसरे की सहायता आवश्यक हो। भगवान ने भक्तों का उद्धार किया; संकट में भक्तों की सहायता की; इस प्रकार के जितने कथन होते हैं, वे सब आरोपित व्यवहार के कथन हैं। वस्तुतः किसी तत्त्व में किसी तत्त्व को कुछ भी लेने-देने की सामर्थ्य तीन काल में भी नहीं है। कोई किसी की मदद या हानि करता है — यह उपचार कथन है, अर्थात् ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है।

जिसने यह माना कि 'मैं पर की सहायता करूँ' — तो उसने परपदार्थों को स्वतन्त्र नहीं माना है, पराधीन माना है तथा जिसने यह माना कि 'पर मुझे सहायता करता है' — तो उसने अपने को स्वतन्त्र न मानकर पर का गुलाम, अर्थात् पराधीन माना है। ऐसी स्व-पर की पराधीनता की मान्यता से ही जीव, संसार-परिभ्रमण करता है। भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई तत्त्व किसी तत्त्व के आधीन नहीं है।

प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य विद्यमान है। शक्तिरूप से सभी आत्माएँ भगवान हैं परन्तु अनादि से ही भगवान आत्मा

www.vitragvani.com



को अपने स्वभाव का अज्ञान है, अर्थात् वह विकार को अपना स्वरूप मानता है। आत्मा की अवस्था में होनेवाले पुण्य-पाप के भाव, विकार हैं, वे धर्म नहीं हैं। देह की क्रिया तो जड़ है, उसमें धर्म अथवा अधर्म नहीं है। धर्म अथवा अधर्म तो आत्मा की अवस्था में होता है। विकार को अपना स्वरूप मानकर उसका कर्ता होना, अधर्म है और विकाररहित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मलदशा प्रगट होना, धर्म है।

जीव को जो अपने स्वभाव के अज्ञान से पुण्य-पाप का कर्ताकर्मपना है, उसे भगवान धर्म नहीं कहते। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि छोड़कर, विकार का कर्ता होकर, पुण्य-पाप की वृत्तियों को अपने कर्मरूप से करता है, उसे भगवान अधर्म कहते हैं।

विकार से धर्म होता है – यह बात सर्वज्ञ के ज्ञान में नहीं आयी है और वाणी में भी ऐसा नहीं आया है तथा वस्तुस्वरूप भी ऐसा नहीं है।

अनादि का अज्ञान मिटकर, सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट हो - यह बात इस समयसार की 71वीं गाथा में है।

विकार मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ – ऐसी जो कर्ता -कर्म की प्रवृत्ति है, वह अज्ञान है और उससे जीव, संसार में परिभ्रमण करता है – ऐसा श्री आचार्यदेव ने कहा है। यह बात सुनकर पात्र शिष्य जिज्ञासा से प्रश्न करता है कि हे नाथ! इस कर्ता-कर्म के अज्ञान का अन्त कैसे हो? प्रभो! हमारा यह अज्ञान कैसे मिटे? इस अज्ञान के मिटाने का क्या उपाय है? स्वयं में

www.vitragvani.com



अज्ञान के अभाव की तैयारी प्रगटी है, पात्रता हुई है और सामने निमित्त भी उपस्थित है। अतः जिज्ञासापूर्वक शिष्य पूछता है कि प्रभो! अनादि का यह अज्ञान अब किस प्रकार मिटेगा? – यह बताओ। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा चिदानन्द स्वरूप है, विकार उसके स्वरूप में नहीं है तो भी पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे मेरा कर्तव्य और मैं उनका कर्ता – ऐसा जो अज्ञानी का अनादिकालीन पाखण्डभाव है, वह कब मिटेगा?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! आत्मा और विकार को भिन्न-भिन्न पहिचानने से विकार के कर्ता-कर्मपने का अनादि का अज्ञान मिट जाता है, अर्थात् अज्ञान के अन्त का एकमात्र उपाय भेदविज्ञान ही है। मैं शुद्धस्वभाव का अखण्ड पिण्ड हूँ; पुण्य-पाप के भाव विकार हैं, बन्धन हैं, अशुचि हैं। हिंसादिरूप पाप तो विकार है ही और आत्मा के भाव में पूजा, भक्ति, दान आदि का पुण्यपरिणाम होता है, वह भी विकार है। मेरा चैतन्यस्वभाव उस विकार से रहित है। इस प्रकार विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान होने पर ही अज्ञान का अभाव होता है।

वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में साक्षात तीर्थङ्करदेव श्री सीमन्धर भगवान केवलज्ञानसहित विराजमान हैं। सीमन्धर परमात्मा ने समवसरण में दिव्यध्वनि के द्वारा जो वस्तुस्वरूप कहा, उसकी प्रसिद्धि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस समयसार परमागम में की है। कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु, महाविदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ परमात्मा श्री सीमन्धर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे और भगवान की दिव्यवाणी सुनी थी। तत्पश्चात् वापस इस भरतक्षेत्र में आकर इन

www.vitragvani.com



समयसारादि महान् शास्त्रों की रचना की है। इन शास्त्रों में जन्म-मरण के रोग के अभाव की अपूर्व दवा है। आचार्य भगवान, भवभ्रमण से बचने की अपूर्व औषधि बतला रहे हैं।

अहो! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, स्वयं सुखस्वभावी है। उसका सुख किन्हीं इन्द्रिय-विषयों में नहीं है; स्वर्ग में सुख नहीं है; पुण्य में सुख नहीं है। आत्मा का सुख पर में नहीं है, न आत्मा का दुःख ही पर में है। परलक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप के भाव हैं, वे आस्रव हैं, आकुलता है, मलिनभाव है, दुःखरूप है और आत्मा तो आकुलतारहित, पवित्र और सुखरूप है; इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का भेद जानना ही सम्यग्ज्ञान का उपाय है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि से ऐसा भेदज्ञान करना ही अज्ञान के अभाव का उपाय है।

शरीर-मन-वाणी, वह जगत के जड़ की पर्यायें हैं। पुद्गलद्रव्य कर्ता होकर उन अवस्थाओं को करता है, आत्मा में उन्हें करने की सामर्थ्य नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेव ने पुद्गल को जड़ बताया है। वह द्रव्य जड़ है, उसके गुण जड़ हैं और उसकी अवस्थाएँ भी जड़ हैं। उसके द्रव्य-गुण-पर्यायों से आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न हैं। आत्मा उस जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ नहीं करता। आत्मा अज्ञानभाव से अपनी अवस्था में विकारभाव को करके उसका कर्ता होता है और ज्ञानभाव से अपनी निर्मल अवस्था को करता है। आत्मा की पर्याय में होनेवाला विकार भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए उस विकार का कर्ता होनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है और जड़ का कर्तापना माननेवाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है।

www.vitragvani.com



आत्मा के शुभपरिणाम के कारण एक भी जड़ की अवस्था नहीं पलटती। भगवान के सन्मुख शरीर नमता है और हाथ जोड़ने की क्रिया होती है, वह आत्मा के शुभपरिणाम के कारण नहीं होती; जड़ की अवस्था होने की सामर्थ्य जड़ में है। आत्मा तो वीतरागी स्वभाव की सामर्थ्यवाला है, उसमें तो पुण्यभाव को प्रगट करने का भी स्वभाव नहीं है; अतः पुण्यभाव से धर्म माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है।

भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया है कि जो चैतन्यतत्व को चूककर पुण्य-पाप का कर्ता होता है, उसे हम जैन नहीं कहते क्योंकि उसने शुद्धस्वभाव की दृष्टि से पुण्य-पाप को नहीं जीता है, अपितु विकार को अपना स्वरूप मानकर स्वयं विकार के द्वारा जीता गया है; इस कारण वह जैन नहीं है।

देखो! जैन कुल में जन्मनेमात्र से ही कोई वास्तव में जैन नहीं कहलाता है। जैसे, थैली पर शक्कर लिखा हो और अन्दर चिरायता भरा हो तो इससे चिरायते की कड़वाहट का अभाव नहीं हो जाता; इसी प्रकार नाम से जैन कहलाने पर भी अन्तर में आत्मा को पुण्य-पाप का कर्ता माननेवाले को सर्वज्ञदेव, जैन नहीं कहते। जो आत्मा, पुण्य-पापरहित ज्ञातास्वभाव में एकत्वदृष्टि से निर्मल अवस्था का कर्ता होता है, वह जैन है। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा एकरूप है, उसकी सन्मुखता से ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि होती है तथा ज्ञान और राग की एकताबुद्धि नष्ट होती है, वह धर्म है। ऐसा धर्मी जीव वस्तुतः राग का कर्ता नहीं होता, अपितु अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव को ही करता है।

www.vitragvani.com



आत्मा स्वयं अपने को भूलकर हैरान होता है, कोई दूसरा उसे हैरान नहीं करता, परन्तु पर मुझे हैरान करता है; पर मुझे विकार कराता है – ऐसा अज्ञान, आत्मा की अवस्था में अनादि से है। वह अज्ञान, प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा उसका नाश हो जाता है।

आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध है परन्तु मैं पर का अथवा विकार का कर्ता हूँ – ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण वह अपने स्वभावोन्मुख नहीं होता और आकुलता में ही परिभ्रमण करता है। आत्मा के भान बिना पुण्य से धर्म मनाने, निमित्त के आश्रय से धर्म मनाने और देह की क्रिया में धर्म मनानेवाले सभी अज्ञानी जीव, आत्मा के स्वभाव की हत्या करनेवाले आत्मघाती हैं और इस विपरीत मान्यतापूर्वक वे जो कोई कार्य करते हैं, वह सब एक रहित बिन्दियों के समान/नि:सार है।

मैं परपदार्थ के कार्यों को करता हूँ – ऐसा माननेवाला अपनी पर्याय में मिथ्यात्वभाव को उत्पन्न करता है परन्तु पर के कार्य का कर्ता तो वह भी नहीं हो सकता। आत्मा अपनी अवस्था में एक समय का विकार या अविकारभाव कर सकता है परन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि जो अपनी अवस्था में एक समयमात्र के विकार का कर्ता होता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

मैं अखण्ड ज्ञानमूर्ति पवित्र हूँ – ऐसे स्वभावसन्मुख भाव में रुकने से विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्तिरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है और आत्मा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलभाव का कर्ता होता है, इसका नाम धर्म है; इससे अतिरिक्त अन्य किसी

www.vitragvani.com



प्रकार धर्म मानते-मनाते हों अथवा धर्मी का अन्य कोई कार्य मानते-मनाते हों तो वह उनकी कल्पना है। भगवान का आगम धर्म का ऐसा स्वरूप नहीं कहता।

मेरा वर्तमान विकार, पर के कारण होता है, कर्म का उदय मुझे विकार कराता है – ऐसा माननेवाले ने तो वर्तमान अंश को भी स्वतन्त्र नहीं माना है, इसलिए उसे तो वर्तमान अंश को त्रिकाली अखण्ड द्रव्य के सन्मुख करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही अवसर नहीं रहा। मेरी अवस्था में विकार होता है, उसे कोई पर नहीं कराता, अपितु मैं ही अपने अपराध से करता हूँ; इस प्रकार कोई अंश को तो स्वतन्त्र मानता हो परन्तु अंश जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को मानता है तो उसे भी त्रिकाली स्वभावसन्मुख ढलने का अवकाश नहीं है; अतः वह भी मिथ्यादृष्टि है। अपने वर्तमान अंश को स्वतन्त्र मानकर, पश्चात् उस विकारी अंश के कर्ता-कर्मपने की मान्यता भी मिटाकर, अभेद स्वभावसन्मुख हुआ, उसी को भगवान ने धर्म कहा है और वही धर्मी जीव का कार्य है।

आज भगवान का केवलज्ञान कल्याणक है। केवलज्ञान के पश्चात् भगवान ने दिव्यध्वनि में क्या उपेदश दिया? यह बात यहाँ चल रही है। भगवान महावीर को वैशाख शुक्ल दशम् को केवलज्ञान हुआ, किन्तु कोई गणधर नहीं होने से छियासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी – ऐसा कथन आता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वस्तुतः वाणी, वाणी के कारण ही रुकी है, उस समय परमाणुओं में वैसी वाणीरूप होने का स्वकाल ही नहीं था और जब वाणी खिरी, तब वह अपने स्वकाल में खिरी है। गौतम गणधर आये,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



इसलिए वाणी खिरी – ऐसा नहीं है। गणधर का आना कर्ता और वाणी का खिरना कर्म – ऐसा कर्ताकर्मपना नहीं है तथा भगवान, कर्ता और वाणी, कर्म – ऐसा भी नहीं है। योग का कम्पन, कर्ता और वाणी, कर्म – ऐसा भी नहीं है; सभी स्वतन्त्र हैं। योग का कम्पन, गौतम का आना और वाणी का खिरना – इन सबका एक काल होने पर भी प्रत्येक कार्य स्वतन्त्र है, कोई एक-दूसरे का कर्ता नहीं है।

पर्यायबुद्धि से 'मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कर्म, अर्थात् मैं विकार से भिन्न नहीं हूँ, अपितु विकार ही मैं हूँ।' – ऐसी मिथ्या कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी के प्रवाहरूप अनादि से है, परन्तु वह जीव का स्वभाव नहीं है; प्रतिक्षण अज्ञान से नयी उत्पन्न हुई है, नयी उत्पन्न हुई होने से मिट सकती है। जीव उत्पन्न करता है तो वह होती है, अन्यथा नहीं होती। स्वभावसन्मुख होने पर 'मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कर्म' – ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु निर्मल वीतरागी परिणाम की उत्पत्ति होती है।

कर्म का उदय तो आत्मा की अवस्था में निमित्तमात्र है, वह जीव को विकार नहीं कराता। कर्म के कारण जीव को विकार होता है – यह बात त्रिकाल में भी सत्य नहीं है। जीव स्वयं अपने अपराध से अज्ञान करता है तो भी अनादि काल से मानता है कि कर्म के कारण अज्ञान होता है। ऐसी मान्यता महा अज्ञान है।

भगवान अरिहन्त परमात्मा कहते हैं कि सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं, कोई अन्य को विकार नहीं कराता तथा कोई किसी पर प्रभाव

www.vitragvani.com



डाले अथवा मदद-असर करे ऐसी ताकत तीन काल-तीन लोक में किसी पदार्थ में नहीं है। जैसे, पदार्थ को किसी ने किया नहीं, अपितु वह स्वयंसिद्ध है; इसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अवस्था भी स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र है, अन्य कोई उसमें कुछ भी नहीं करता। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय को स्वतन्त्र जाननेवाला, स्व स्वभावसन्मुख हुए बिना नहीं रहता।

आचार्य भगवान समयसार की पहली गाथा में कहते हैं कि 'मैं सिद्ध हूँ, तुम सिद्ध हूँ। **वंदित्तु सव्व सिद्धे**' अर्थात् समस्त सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। मेरे और तुम्हारे आत्मा में सिद्धपने की स्थापना करता हूँ। जो सिद्ध में है, वह तुझमे हैं और जो सिद्ध में नहीं है, वह तेरा स्वभाव भी नहीं है। अत: विकार मेरा कर्तव्य है – ऐसी मान्यता का परित्याग कर दे। आत्मा में परमात्मपने की स्थापना करके तू श्रवण करना; इस प्रकार आचार्यदेव ने आत्मा में परमात्मपने की स्थापना करके प्रारम्भ किया है। धर्म के प्रारम्भ का यही उपाय है।

सिद्ध भगवान को आत्मा में आदर्शरूप में / दर्पणरूप में स्थापित किया है, इसलिए जैसे सिद्ध वैसा मैं। – इस प्रकार विकार और अपूर्णदशा में एकत्वबुद्धि छोड़कर सिद्ध समान निज आत्मा की श्रद्धा करना ही अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता। अनादि के अज्ञान की निवृत्ति और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय सिद्धसमान निज आत्मा की श्रद्धा करना ही है, अन्य कोई बाह्य क्रियाकाण्ड और शुभराग, उपाय नहीं है। शुभराग, कारण

www.vitragvani.com



और धर्म, कार्य – ऐसा कारण-कार्यपना तीन काल में भी नहीं है, क्योंकि शुभराग तो विकार है और धर्म तो अविकारी दशा है; अतः विकार, अविकारपने का कारण कैसे हो सकता है ? शास्त्र में कहीं शुभराग या व्यवहार को धर्म का साधन कहा गया हो तो वह उपचार का कथन है। वस्तुतः शुभराग, धर्म का साधन नहीं है।

विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अधर्म है और स्वभावसन्मुख होकर आत्मा और आस्रवों को भिन्न जानने पर उस मिथ्या कर्ता -कर्म प्रवृत्ति का अभाव होकर अज्ञान का नाश होता है, अर्थात् बन्धन का अभाव होकर मुक्ति होती है।

सभी अरिहन्त भगवन्त इसी उपाय से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आज से पूर्व अनन्त जीव, केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, अभी भी महाविदेहक्षेत्र से छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी अनन्त जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे, उन सभी जीवों के लिये यह एक ही मोक्ष का उपाय है।

सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का आशय अल्प शब्दों में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि 'ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है।' 'ज्ञानमात्र' शब्द में आत्मसन्मुख हुए श्रद्धा-चारित्रादि भी आ जाते हैं। राग का अभाव बताने के लिये 'ज्ञानमात्र' – ऐसा कहा है। वहाँ ज्ञान के साथ सम्पूर्ण आत्मा अभेद समझना चाहिए। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता के अतिरिक्त तीन काल में भी अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। कहा भी है –

**एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ।**
**प्रेरे जो परमार्थ को वह व्यवहार समंत॥**

www.vitragvani.com



अखण्डानन्द स्वभाव का भान करके उसका मनन करने की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसे व्यवहार कहते हैं परन्तु उस व्यवहार के अवलम्बन से अन्तर के परमार्थ में नहीं पहुँचा जा सकता। जहाँ तक राग का लक्ष्य रहता है, वहाँ तक अभेद आत्मा का अनुभव नहीं होता। व्यवहार, राग है, उसका आश्रय छोड़कर रागरहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करनेवाला धर्मी है। मुनिदशा अथवा श्रावकदशा से पूर्व अन्तर में अविरतसम्यक्त्व, अर्थात् चौथा गुणस्थान प्रगट होने पर ऐसी दशा प्रगट होती है। उस जीव को अन्तर में ऐसी विकल्प की कर्ता-कर्मपने की प्रवृत्ति नहीं रहती कि मैं विकार का कर्ता हूँ और विकार मेरा कार्य है। – ऐसी दृष्टिवन्त धर्मात्मा, स्वसन्मुख परिणमन से क्रम-क्रम से राग का अभाव करके सर्वज्ञ होता है। इसी मार्ग से सर्वज्ञ हुआ जाता है।

भगवान ने सर्वज्ञज्ञान से / केवलज्ञान से जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को स्वतन्त्र जाना है और दिव्यध्वनि में प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता का उपदेश दिया है। भगवान ने प्रत्येक वस्तु के अनन्त गुणों को भी स्वतन्त्र कहा है। एक वस्तु, दूसरी किसी वस्तु की सहायता नहीं करती परन्तु एक वस्तु में रहनेवाले अनन्त गुणों में भी एक गुण, दूसरे गुण को उपादानरूप से कोई सहायता नहीं करता। आत्मा में जिस क्षण सम्यक् श्रद्धा प्रगट होती है, उसी क्षण पूर्ण सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाए – ऐसा नहीं होता तथा बारहवें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण पूर्ण, अर्थात् केवलज्ञानरूप नहीं परिणमता क्योंकि प्रत्येक गुण भी स्वतन्त्र है।

www.vitragvani.com



'सम्यक्श्रद्धा होने के क्षण ही सम्पूर्ण चारित्र होना चाहिए और राग का त्याग होना चाहिए' – ऐसी मान्यतावाले को श्रद्धा आदि गुणों की स्वतन्त्रता का पता नहीं है। वस्तुरूप में सभी गुण अभेद होने पर भी प्रत्येक गुण के परिणमन में स्वतन्त्रता है।

सोलह, सत्रह और अठारहवें शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ – ये तीनों तीर्थङ्कर भगवन्त, चक्रवर्ती थे। उनको संयोगरूप में छह खण्ड का राज्य वैभव था और अस्थिरताजन्य राग भी था, फिर भी अन्तर में एक क्षण भी सम्यक्श्रद्धा हटती नहीं थी। राग होने पर भी अन्तर में ऐसी सम्यक्श्रद्धा थी कि 'यह राग मैं नहीं हूँ, यह मेरा कर्तव्य नहीं है और राग, स्त्री आदि परद्रव्यों के कारण भी नहीं है।' – ऐसी सम्यक् श्रद्धा होने पर भी अभी चारित्रदशा प्रगट नहीं हुई थी क्योंकि श्रद्धा और चारित्र – इन दोनों गुणों का परिणमन स्वतन्त्र है; इसलिए श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि समस्त गुण एक साथ प्रगट नहीं होते।

सम्यक्श्रद्धा प्रगट होने पर तुरन्त ही चारित्र के विकार का नाश हो जाए – ऐसा नहीं होता। श्रद्धा में तो विकाररहित परिपूर्ण चारित्र का ही स्वीकार हुआ है तो भी चारित्रगुण अत्यन्त निर्विकाररूप तुरन्त ही नहीं परिणमता। श्रद्धा में तो सम्पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव आया है परन्तु अभी ज्ञान पूर्ण प्रगट नहीं हुआ है। इस प्रकार वस्तु स्वतन्त्र है और वस्तु के गुण भी स्वतन्त्र हैं।

यह तो आत्मा के अन्तर के गुणों की बात है। अभी तो लोग बाहर की स्थूल बातों में अटक गये हैं। कर्म के कारण से आत्मा को विकार होता है और विकार से आत्मा को लाभ होता है – ऐसी मान्यता तो स्थूल मिथ्यात्व है।

www.vitragvani.com



सम्यग्दर्शन होने के बाद भी प्रमाद के कारण राग होता है, वह राग कोई कर्मोदय के कारण नहीं होता; जड़ कर्म तो निमित्तमात्र है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव, अन्तर सवभाव की दृष्टि में उस राग का भी कर्ता नहीं होता। सम्यग्दृष्टि का ऐसा अन्तरङ्ग परिणमन बताने के लिए कभी शास्त्रों में ऐसा भी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है, वह कर्म की बलजोरी से होता है। 'कर्मोदय, आत्मा को विकार कराता है' – ऐसी स्थूल मिथ्यादृष्टि मिट जाने के बाद, स्वभाव की अन्तरदृष्टि का यह कथन है। ज्ञानी तो अखण्डानन्द स्वभाव की दृष्टि से पद-पद पर स्वभाव की शुद्धि को प्रगट करता है और अज्ञानी 'मैं विकार का कर्ता हूँ अथवा पर मुझे विकार कराता है' – ऐसी बुद्धि से पद-पद पर आत्मा की शुद्धता का नाश करता है और विकार को उत्पन्न करता है।

जैसे, त्रिकाली द्रव्य और उसके गुण स्वतन्त्र हैं; उसी प्रकार उसकी अनादि-अनन्त काल की प्रत्येक अवस्था भी स्वतन्त्र है। विकार कोई पर नहीं कराता; अपितु मेरी अवस्था की स्वतन्त्रता से होता है – इतनी स्वतन्त्रता की स्वीकृति के बाद मेरे त्रिकाली स्वभाव में वह एक समय का विकार नहीं है और विकार में मेरा स्वभाव नहीं है – ऐसी प्रतीति करने पर धर्म का प्रारम्भ होता है और उसी प्रतीति के बल से विकार का अभाव होता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की, प्रत्येक गुण की और प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता भगवान ने दिव्यध्वनि में प्रसिद्ध की है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की ऐसी स्वतन्त्रता जानकर अपने स्वभावसन्मुख होने को भगवान, मोक्ष का उपाय करते हैं। ●●

मोक्षकल्याणक प्रवचन - 2

# मुक्ति का उपाय : भेदविज्ञान

देखो, आज इस राजकोट जिनमन्दिर में श्री सीमन्धर भगवान आदि की स्थापना हो रही है, अर्थात् आज अरिहन्त भगवान की प्रतिष्ठा का मङ्गल दिन है। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में आत्मा के स्वभाव की प्रतिष्ठा करने की बात है। 'विकार ही मैं हूँ' – ऐसा मानकर अनादि काल से आत्मा में विकार की प्रतिष्ठा की थी। विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव को जानकर आत्मा में विकारीभावों की प्रतिष्ठा न करके 'सिद्ध समान सदा पद मेरा' – इस प्रकार आत्मा में चैतन्यस्वभाव की प्रतिष्ठा करना, धर्म है।

श्री अरिहन्त भगवान ने भी 'विकार मैं नहीं, चैतन्यस्वभाव ही मैं हूँ' – ऐसे भान द्वारा अपने आत्मा में चैतन्यस्वभाव की प्रतिष्ठा की थी और फिर उसी में लीनता के द्वारा राग-द्वेष का अभाव करके केवलज्ञान प्रगट किया; उनकी आज यह स्थापना हो रही है।

जो जीव इन अरिहन्त भगवान की प्रतिष्ठा करता है, वह जीव अल्प काल में भगवान हुए बिना नहीं रहता। अपने आत्मा में चैतन्य प्रभु की स्थापना करना, वह परमार्थ स्थापना है; बाहर में

www.vitragvani.com



भगवान की स्थापना तो उपचार से है। जो पञ्च कल्याणक की बाह्य क्रियाएँ हुई, वे तो उनके होने के काल में हुई है। देखो, यह चैतन्यप्रभु की लीला है कि वह स्व को जानते हुए पर को भी जान लेता है परन्तु पर का कुछ करे – ऐसी चैतन्यप्रभु की लीला नहीं है।

आज इस जिनमन्दिर में प्रवचनसार परमागम की स्थापना भी हुई है। इस प्रवचनसार की 80-81-82 वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव, अरिहन्त भगवान के आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानता है, वह जीव अपने आत्मा को जानता है और अवश्य उसका मोह क्षय होता है। इस प्रकार मोह का क्षय करके और सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके, जो राग-द्वेष का क्षय करता है, वह शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। सभी अरिहन्त भगवन्तों ने इसी विधि से कर्मों का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया है तथा सभी अरिहन्त भगवन्तों ने उपदेश भी इसी प्रकार किया है। भगवान के द्वारा कथित समस्त प्रवचन का सार शुद्धात्मा ही है। जिसने अरिहन्त भगवान के समान अपने शुद्धात्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लिया, उसने वास्तव में अपने आत्मा में प्रवचनसार की स्थापना की है।

आज भगवान की प्रतिष्ठा का मङ्गल दिन है। पञ्च कल्याणक में आज भगवान का मोक्षकल्याणक हुआ है। श्री सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर चन्द्रप्रभ भगवान मोक्ष पधारे हैं और देवों ने उनका निर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया है, यह दृश्य आज यहाँ हुआ था। भगवान क्या करके मुक्ति को प्राप्त हुए? यह बात अभी

www.vitragvani.com



चलती है। भगवान ने परजीवों का कुछ नहीं किया परन्तु प्रथम अपने आत्मा में भेदज्ञान प्रगट किया और उसके प्रताप से केवलज्ञान प्रगट करके भगवान, मुक्ति को प्राप्त हुए।

भेदज्ञान ही मोक्ष का उपाय है – ऐसा यहाँ समयसार की 72 वीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं –

**अशुचिपना विपरीतता ये आस्त्रवों का जानके।**
**अरु दुःख कारण जानके उनसे निवर्तन जीव करे॥**

आत्मा नित्य ज्ञानानन्द पवित्र वस्तु है। उसकी अवस्था में जो शुभ-अशुभ वृत्तियाँ होती हैं, वे जल में काई की तरह अशुचिरूप है। जैसे, जल में काई होती है, वह पानी का स्वभाव नहीं, बल्कि मैल है; उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे आत्मा का स्वभाव नहीं; बल्कि मलिनभाव है – अशुचि हैं। आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने पर वह पवित्रस्वरूप से अनुभव में आता है और पुण्य तथा पाप के भाव आत्म में मलिनरूप अनुभव में आते हैं।

शरीर अशुचिमय है, वह तो आत्मा से सदा ही भिन्न जड़ है। आत्मा की अवस्था में होनेवाली पुण्य-पाप की वृत्तियाँ भी अपवित्र है, मैल है, अशुचि है और भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दमूर्ति पवित्र है, निर्मल है, शुचि है। इस प्रकार आत्मा और विकार को भिन्न -भिन्न जानकर, विकारीभावों से छूटकर आत्मा अपने स्वभावोन्मुख होता है। इस प्रकार विकार से निवृत्त होने पर आत्मा को कर्मबन्धन नहीं होता; इसलिए आत्मा और विकार का भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है।

www.vitragvani.com



प्रभो! तेरा स्वभाव सर्वज्ञ है; तेरी शक्ति सर्वज्ञ भगवान से कम नहीं है। जितनी शक्ति सर्वज्ञ भगवान में है, उतनी ही शक्ति तेरे स्वभाव में भी भरी है। तू उस शक्ति का भान करके उसमें स्थिर हो, तो तुझमें भी सर्वज्ञदशा होगी। विकार ही मैं हूँ – ऐसी पामरबुद्धि, भव-भ्रमण का कारण है और विकार से भिन्न आत्मस्वभाव का भान करना, अर्थात् भेदज्ञान करना ही मुक्ति का उपाय है।

भगवान! तेरा ज्ञानमूर्ति आत्मा सदा ही निर्मल है। तू क्षणिक शुभाशुभ वृत्तियों जितना नहीं है। तेरी प्रभुता तुझमें भरी है। तेरे स्वभाव के पूरे गीत सर्वज्ञ भगवान की वाणी में भी नहीं आ पाते – ऐसी तेरे स्वभाव की महिमा है। मूल गाथा में आस्रवों का अशुचिरूप वर्णन किया है, वहाँ से गुलाँट मारकर आचार्यदेव ने टीका में आत्मा के पवित्र स्वभाव की बात निकाली है। आस्रव, अशुचि है तो उसके सामने भगवान आत्मा शुचि है – ऐसा अस्ति-नास्ति से वर्णन किया है। पुण्य और पाप दोनों भाव, आस्रव हैं; वे आस्रव तो मलिन स्वभाववाले हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही पवित्र स्वभाववाला है; इस प्रकार यहाँ आचार्यदेव, आत्मा की प्रभुता बताकर विकार से भेदज्ञान कराते हैं।

विकार है, वह आत्मा की पर्याय में होता अवश्य है; आत्मा की पर्याय में विकार है ही नहीं – ऐसा नहीं है परन्तु उस क्षणिक विकारभाव को ही आत्मा का स्वभाव मान लेना अज्ञान है। जैसे, कोई काई और पानी को एक मानकर काइवाला पानी पीये तो वह मूर्ख माना जाता है। लोग काई और पानी को भिन्न जानकर, काई निकालकर पानी पीते हैं; इसी प्रकार आत्मा चैतन्यमूर्ति सदा अति

www.vitragvani.com



निर्मल है और पुण्य-पापरूप विकार, काई की तरह अत्यन्त मलिन है, इन दोनों को एकरूप अनुभव करनेवाला अज्ञानी है।

आत्मा और विकार – दोनों का भिन्न-भिन्न स्वभाव जानकर, विकाररहित पवित्र आत्मस्वभाव का अनुभव करना ही भेदज्ञान है और वही मोक्ष का उपाय है। यहाँ शुद्ध आत्मद्रव्य बताना है; इसलिए चैतन्यमात्र स्वभाव को ही आत्मा कहा है और विकारीभावों को अशुचिमय कहकर आत्मा से भिन्न बताया है। भगवान ऐसे स्वरूप का भान करके, विकार से हटकर स्वरूप में स्थिर हुए, तब मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। मुक्ति के इस उपाय को समझना धर्म है; इसके अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई उपाय नहीं है।

लोग अज्ञानभाव से व्यवहार के आश्रय को मोक्ष का साधन मानते हैं परन्तु व्यवहार का आश्रय तो बन्धन का कारण है, उसके आश्रय से मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। मोक्ष का साधन आत्मा के परमार्थ स्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है। जैसे, विकारीभाव तो आत्मा के पवित्र स्वभाव से विरोधीभाव है; इसी प्रकार व्यवहार, वह परमार्थ का विरोधी है। उस व्यवहार के अवलम्बन से आस्रवों का अभाव नहीं होता, अपितु आस्रव उत्पन्न होते हैं और आत्मस्वभाव के आश्रय से आस्रव रुक जाते हैं।

आत्मा, चैतन्यस्वभाववाला होने से स्व-पर को जानता है और विकारभाव तो अपने को अथवा पर को नहीं जानते – इस कारण वे जड़स्वभाववाले हैं। जो जीव, विकार से हटकर स्व -स्वभावसन्मुख हुआ, वह जीव अपने को तथा विकार को भिन्न जानता है और जो जीव, विकार में ही एकत्व मानकर अटक रहा है, वह जीव अपने को तथा पर को नहीं जानता।

www.vitragvani.com



यहाँ आत्मा और विकारीभाव भिन्न किस प्रकार है ? – यह समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा तो ज्ञानस्वभावी होने से स्व-पर को जानता है और विकारी आस्रव तो अपने को और पर को नहीं जानते; अपितु उनको दूसरा जानता है; इस कारण वे विकारी आस्रव, जड़स्वभावी है। इस प्रकार आत्मा और आस्रव भिन्न-भिन्न है।

जो भाव चैतन्य की जागृति को रोककर होते हैं, उन्हें यहाँ जड़ कहा है। जड़, अर्थात् वे भाव कोई परमाणु में नहीं होते परन्तु आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए उन्हें जड़ कहा है। जो भाव चैतन्य में एकता नहीं करता, वह चैतन्य की रमणता को रोकता है, उसे चैतन्य कैसे कहें ? जो पञ्च महाव्रत के भाव होते हैं, वह शुभभाव भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है; इस कारण वह जड़ में जाता है; उस शुभराग के फल में जड़ का संयोग होता है। वह राग, चैतन्य की एकता प्रगट होने का कारण भी नहीं है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का भाव होता है, वह भी अशुचिभाव है; इस कारण वह जड़स्वभावी है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवों की अत्यन्त भिन्नता है।

**प्रश्न** – पुण्यभाव, अशुचि और जड़स्वभाव है – ऐसा कहा है तो भक्ति इत्यादि का शुभभाव करना या नहीं ?

**उत्तर** – जहाँ तक वीतरागता न हो, वहाँ तक राग उसके काल में हुए बिना नहीं रहेगा परन्तु राग मेरा स्वस्वभाव नहीं है; मेरा चैतन्यस्वभाव तो रागरहित है, इस प्रकार अन्तर में राग और चैतन्यस्वभाव का भेदज्ञान करना चाहिए। वीतरागी को तो राग

www.vitragvani.com



नहीं होता परन्तु जो रागी है, उसे तो राग के काल में भक्ति आदि का भाव हुए बिना नहीं रहता। या तो तीव्र विषय-कषाय में पड़े जीवों को शुभराग नहीं होता या वीतराग हो गये हों, उन जीवों को शुभराग नहीं होता परन्तु निचलीदशा में स्थित पात्र जीव को तो भक्ति-स्वाध्याय आदि के शुभभाव हुए बिना नहीं रहते परन्तु उस राग के समय भी धर्मी को अन्तर में भान होता है कि यह रागभाव मेरे स्वभाव से विपरीत भाव है। मेरा स्वभाव, राग का कर्ता नहीं है; मैं तो पवित्र चैतन्यमूर्ति हूँ। इस प्रकार शुभभाव होने पर भी धर्मी उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता; स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले शुद्धभाव को ही अपना कर्तव्य मानता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा को पवित्र चैतन्यस्वरूप देखना और पुण्य-पापरूप आस्रवभावों को अशुचिरूप और जड़स्वभाववाले देखना। यहाँ पुण्य-पाप को जड़स्वभावरूप देखने को कहा – वह कैसे ज्ञात हो? इस बाहर की आँख से वह नहीं दिखता परन्तु चैतन्यस्वभाव की रुचि होने पर स्वभाव के ज्ञानचक्षु के द्वारा पुण्य-पाप, जड़भावरूप ज्ञात होते हैं। जिसने भेदज्ञान चक्षु द्वारा आत्मा को पुण्य-पापरहित चैतन्यस्वरूप जाना, उसने पुण्य-पाप को अपने स्वभावरूप नहीं माना, अर्थात् उसने पुण्य -पाप को जड़स्वभाव जाना। इसके अलावा लकड़ी इत्यादि जड़ पदार्थों की तरह पुण्य-पाप कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

मैं पर से भिन्न हूँ और क्षणिक विकार जितना भी मैं नहीं हूँ; मैं तो नित्य शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ; इस प्रकार पहिचान करनेवाले ने आत्मा और आस्रवों को भिन्न जाना है।

www.vitragvani.com



इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा आत्मा और आस्रवों को भिन्न जानकर आत्मा में एकाग्र होने पर आस्रव के अभावपूर्वक मुक्तदशा प्रगट होती है – यह मोक्ष का उपाय है।

आस्रवभाव, अशुचिरूप और आत्मा, पवित्र है। आस्रव का एक अंश भी स्वभाव को रोकता है; इस कारण वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत है। आत्मा का स्वभाव स्व-पर को जानने का है; इस कारण वह चैतन्यस्वभाव है और आस्रव स्वयं कुछ नहीं जानते; इस कारण वे जड़स्वभाव है। आस्रव तो अन्य के द्वारा ज्ञेय होने योग्य है। यहाँ 'आस्रव अन्य के द्वारा ज्ञेय होने योग्य है' – ऐसा कहकर आस्रवों को आत्मा का व्यवहार ज्ञेयरूप सिद्ध किया है। वह आस्रव वास्तव में व्यवहार ज्ञेय कब है? जब आत्मा आस्रवों से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर, आस्रवों से परांमुख होकर स्वभावसन्मुख होता है, तब उसकी स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति खिलती है, उस ज्ञानशक्ति के खिलने पर आस्रवों को अपने से भिन्न जाना, अर्थात् आस्रव भी परज्ञेय हो गये; इस कारण वे व्यवहार ज्ञेय हुए।

'आस्रव वह मैं' – ऐसी पर्यायबुद्धि से स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति नहीं खिलती, अर्थात् आस्रव, व्यवहारज्ञेय नहीं होते। आस्रवों से भिन्न पड़े बिना आस्रवों को व्यवहारज्ञेय करेगा कौन? जिसने परमार्थ ज्ञेयरूप आत्मा को लक्ष्य में लिया है, वह आस्रवों को व्यवहारज्ञेयरूप जानता है। आस्रवरहित निजस्वभावसन्मुख झुकाव होने पर स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिलता है।

जिस जीव को वस्तुस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा नहीं है, वह

www.vitragvani.com



जीव, आस्रवों को पररूप नहीं जान सकता। चैतन्यस्वभाव में विकार का अभाव है, इस प्रकार स्वभाव की प्रतीति करनेवाला जीव ही राग को पररूप जान सकता है।

चैतन्यस्वभाव, विकार के कारण नहीं टिकता, किन्तु विकार के अभावरूप स्वभाव है; विकार का नाश होने पर स्वभाव का नाश नहीं हो जाता; इस प्रकार आत्मा, विकार से भिन्न है। आत्मा के स्वभाव के आश्रय से ही साधकभाव प्रगट होता है, टिकता है और बढ़ता है; विकार के आश्रय से साधकभाव प्रगट नहीं होता, बढ़ता नहीं और न टिकता ही है। अणुव्रत अथवा पञ्च महाव्रत के शुभविकल्प के कारण पाँचवाँ अथवा छठवाँ गुणस्थान टिकता है – ऐसा नहीं है परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही राग का अभाव होकर वह दशा प्रगट होती है और टिकती है। जैसे, अन्धा पुरुष सूझते पुरुष को पकड़ नहीं सकता; इसी प्रकार शुभरागरूप व्यवहार स्वयं अन्धा है, वह निश्चय का कारण नहीं हो सकता और उसके आधार से निश्चय नहीं टिकता। व्यवहार विकल्प भले ही हो, उसके होने का निषेध नहीं है परन्तु उसके आधार से परमार्थ धर्म प्रगट होगा – यह मान्यता मिथ्या है।

भाई! इन क्षणिक पराश्रितभावों की दृष्टि छोड़कर अपनी चैतन्य की नित्यता की तरफ झुक तो सही! तुझे स्वभाव की सन्मुखता में व्यवहार का ज्ञान भी हो जाएगा। मैं विकार के सन्मुख देखकर उसे जाननेवाला नहीं, किन्तु स्वभावसन्मुख रहकर उसका जाननेवाला हूँ – ज्ञानी को ऐसी स्वभावसन्मुखता की मुख्यता है। ज्ञानी की दृष्टि में व्यवहार की मुख्यता एक समय भी नहीं होती।

www.vitragvani.com



साधकदशा स्वभाव की मुख्यता के जोर से ही है। यदि स्वभाव की मुख्यता मिटकर विकार की मुख्यता हो जाए तो साधकदशा नहीं टिकती। श्रद्धा का विषय जो निश्चय एकरूप स्वभाव है, उसकी मुख्यता से साधकदशा का प्रारम्भ होता है और उस स्वभाव की मुख्यता से ही साधकदशा बढ़कर पूर्ण मुक्तदशा प्रगट होती है। इसी उपाय से भगवान ने मुक्ति प्राप्त की है।

आत्मा का चैतन्यस्वभाव ऐसा है कि वह स्वयं को जानते हुए पर को भी जान लेता है। आत्मा के स्वभाव से आस्रवभाव विपरीत है। वे आस्रव अपने को अथवा पर को नहीं जानते हैं, किन्तु वे तो पर के द्वारा (आत्मा या ज्ञान के द्वारा) जानने योग्य हैं। तात्पर्य यह है कि आस्रवों को तो दूसरा ही जानता है।

आस्रव, आत्मा से भिन्न है, अर्थात् आस्रवों की अपेक्षा आत्मा अन्य ही है। 'आत्मा, आस्रवों से अन्य ही है' – ऐसा कब कहलाया? जो आत्मा, आस्रवों से भिन्न पड़कर अपने स्वभावसन्मुख हुआ, वह आत्मा, आस्रवों से अन्य ही है। जो स्वसन्मुख दृष्टि से जागृत हुआ, वह चैतन्य की वृद्धि को देखता है और आस्रवों को गौण करता है। निमित्तरूप जड़कर्म तो पर हैं, वे आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं और यहाँ तो आचार्यदेव आस्रवों से भी आत्मा को अत्यन्त भिन्न बताकर कहते हैं कि तेरी श्रद्धा को वस्तुस्वभाव के सन्मुख बना, व्यवहार के आश्रय की श्रद्धा छोड़!

जगत के बहुत जीवों का समय तो चैतन्य का आश्रय चूककर धर्म के नाम पर बाह्य विधि-निषेध में चला जाता है। आत्मा बाहरी

www.vitragvani.com



पदार्थों से तो भिन्न ही है; अतः आत्मा उन पदार्थों को ग्रहण ही नहीं करता परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा, आस्रव के विकारीभावों को भी अपने स्वभाव में ग्रहण नहीं करता; आत्मा विकार से भी भिन्न है। अन्तर में होनेवाले पुण्य-पाप, चैतन्यस्वभाव से अन्य हैं – पृथक हैं। यद्यपि वे आकाश-क्षेत्र की अपेक्षा पृथक् नहीं है; तथापि स्वभाव की अपेक्षा भिन्न है। विकारीभाव, चैतन्य का स्वभाव नहीं है, इसलिए वे आत्मा से भिन्न हैं। ऐसे आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता प्रगट करना ही मोक्ष का उपाय है। ●●

## सिद्धपद के साधक-आराधक

सन्त तो अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञपद को ग्रहण कराने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। सिद्धपद को साध रहे हैं, उन्होंने निज चैतन्यगृह में सिद्धों का सत्कार किया है और रागादि परभावों को दूर किया है। अहा! अनन्त स्वभाव की साधना करनेवाले सन्त-मुनिवरों की क्या बात! सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय भी अनन्तगुण के रस से उल्लसित होती हुई आनन्दरूप हो गयी है। अहा! अनन्तगुण से गम्भीर ऐसे चैतन्यतत्त्व को साधनेवाले जीव की दशा भी महा गम्भीर होती है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

गर्भकल्याणक प्रवचन - 3

# जीव की धार्मिक प्रवृत्ति क्या ?

देखो, यह प्रतिष्ठा के महोत्सव में आत्मा के स्वभाव की बात समझे तो अपनी आत्मा में धर्म की प्रतिष्ठा होती है। यह जिन मन्दिर प्रतिष्ठा इत्यादि तो बाहर का जिस समय बनना हो, उस समय स्वयं के कारण से बनता है। रागी जीव को अपने कारण शुभभाव होता है परन्तु जीव के शुभभाव के कारण बाहर में कुछ नहीं होता तथा बाहर में यह सब होना था, इसलिए जीव को शुभभाव हुआ – ऐसा भी नहीं है। बाहर का कार्य स्वयं होता है, तब शुभभाववाला जीव निमित्त कहलाता है। वहाँ बाहर की जो क्रिया हुई, उससे तो धर्म नहीं है; शुभभाव से भी धर्म नहीं है। जब आत्मा अपने स्वभाव से शुभराग का कर्ता भी नहीं है तो फिर बाह्य जड़ की क्रिया को आत्मा करे – यह अज्ञानी की बात कहाँ रही ?

वीतरागी भगवान की प्रतिष्ठा इत्यादि का शुभविकल्प तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को आता है परन्तु बाहर की क्रिया मैं करता हूँ – ऐसी विपरीत मान्यतावाला अज्ञानी जीव उस शुभ के समय मिथ्यात्वसहित का पुण्य बाँधता है और धर्मी जीव को उस

www.vitragvani.com



शुभ के समय शुद्धात्मा का भान है। इस शुभभाव के द्वारा मैं बाहर के काम करता हूँ – ऐसा वह नहीं मानता तथा वह शुभराग से आत्मा को धर्म होना भी नहीं मानता; इसलिए उस शुभविकल्प के समय भी श्रद्धा के जोर से शुद्ध आत्मा की तरफ का झुकाव रहा, उससे ही धर्मी को धर्म होता है। इस प्रकार धर्म का आधार तो आत्मा ही है। लोग बाह्य के आधार से धर्म मानकर भटक रहे हैं। भगवान तो माता के गर्भ में अवतरित हुए, तब भी शुद्ध आत्मा के भानसहित ही थे।

आत्मा का धर्म कैसे हो ? यह उसकी बात है। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, आत्मा की क्षणिक अवस्था में विकार होता है, वह मेरा स्थायी स्वरूप नहीं है, मैं नित्य जानने-देखनेवाला स्वरूप से ध्रुव हूँ – ऐसा मेरा स्वभाव ही मुझे शरणभूत है। इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा को जानता है, उसे ही उस शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति द्वारा शुद्ध आत्मपना होता है।

ध्रुव आत्मा को जानकर उसमें प्रवृत्ति करना ही धर्म है – यही धर्मी जीव की प्रवृत्ति है। यदि जीव पहले शुद्ध आत्मा को जाने तो उसे आत्मा में प्रवृत्ति होती है। जिसने अपने शुद्ध आत्मा को नहीं जाना है, उसे उसमें प्रवृत्तिरूप धर्म नहीं होता। परवस्तु अथवा उसके लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभभाव, वे कोई मुझे शरण नहीं हैं; मैं उनसे रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ, वही मेरा शरण है – ऐसा जिसने जाना है, उसे उसमें प्रवृत्ति से धर्म होता है। शुद्धात्मा का ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति, इस प्रकार क्रम की बात समझायी है परन्तु वस्तुतः तो शुद्धात्म-सन्मुख होकर उसका ज्ञान किया, वहाँ उस ज्ञान के

www.vitragvani.com



साथ ही शुद्धात्मा की प्रवृत्ति हो गयी और मोह का क्षय हो गया परन्तु पहले शुद्धात्मा को जाना, तत्पश्चात् शुद्धात्मा में प्रवृत्ति हुई और फिर मोह का क्षय हुआ – ऐसा क्रम भेद नहीं है।

देह की प्रवृत्ति से अथवा शुभराग की प्रवृत्ति से धर्म नहीं होता परन्तु शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति से ही धर्म होता है। पहले शुद्ध आत्मा को ख्याल में लेना चाहिए। शुद्धात्मा को जानने पर अन्दर में पर से पृथक् करने की प्रवृत्ति द्वारा जो क्रिया होती है, वह धर्म है। इसलिए शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप क्रिया का अभ्यास करना चाहिए। मात्र शरीर के हलन-चलन का नाम ही क्रिया नहीं है परन्तु अन्दर आत्मा की पहचान करके उसमें एकाग्र होना भी क्रिया है और वही धर्मात्मा की धर्म क्रिया है। शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है।

जो जीव शुद्धात्मा को जानते हैं, उन्हें ही शुद्धात्मा में प्रवृत्ति होती है – ऐसा कहने में प्रत्येक जीव का भिन्नपना भी आ गया। एक जीव शुद्ध आत्मा को जाने, इससे दूसरे को कुछ लाभ हो जाए – ऐसा नहीं होता, क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं।

कोई यह मानता है कि फिर शुद्धात्मा को जानने के बाद तो बाहर का कुछ करने को आता होगा न! तो उससे कहते हैं कि नहीं; शुद्धात्मा तो जानने के बाद उसी में प्रवृत्ति द्वारा मोह का नाश होता है। बाहर की प्रवृत्ति तो आत्मा कभी भी कर ही नहीं सकता। (आत्मा) अधिकतम तो पुण्य-पाप के भाव की प्रवृत्ति करता है, वह विकारी प्रवृत्ति है; उसमें धर्म नहीं है। मैं ध्रुव शुद्धात्मा हूँ, उसी का मुझे आधार है। इस प्रकार सतसमागम में पात्रता से जानकर, उसमें प्रवृत्ति करना ही धर्म है, वही धर्मी जीव की प्रवृत्ति है।

www.vitragvani.com



शरीर-मन-वाणी की अवस्थारहित और पुण्य-पाप से भी पृथक् – ऐसा ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा मैं हूँ। पर्याय में जो क्षणिक शुभ-अशुभपरिणाम होते हैं, उन विकारी परिणामों द्वारा बाहर में कुछ नहीं होता तथा उन परिणामों द्वारा अन्तरस्वभाव में भी नहीं जाया जा सकता; इसलिए वे विकारी परिणाम निरर्थक हैं; वे जीव को शरणभूत नहीं हैं।

ध्रुव चैतन्यस्वभाव ही शरणभूत है; इस प्रकार जिसने शुद्धात्मा की श्रद्धा की है, उसे शुद्धात्मा में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मपना होता है; इसके अतिरिक्त दूसरे किसी कारण से शुद्धात्मपना नहीं होता। शुद्ध आत्मस्वभाव को जानने के बाद किसी दूसरी प्रवृत्ति से शुद्धता नहीं होती परन्तु तत्पश्चात् भी उस शुद्धात्मा में ही प्रवृत्ति से आत्मा को शुद्धता होती है। आत्मा बाहर का तो कुछ कर ही नहीं सकता; इसलिए पहले और बाद में उसे करने का प्रश्न ही नहीं रहता है।

बहुत से लोग पूछते हैं कि आत्मा की समझ के बाद तो यह देहादिक की क्रिया करना आयेगा न? – परन्तु भाई! आत्मा जो कर सकता हो, उसमें पहले और बाद में करने का प्रश्न उठेगा न! परन्तु जो कभी कर ही नहीं सकता, उसमें पहले और बाद में करने का प्रश्न क्या? जैसे, कोई कहे कि गधे के सींग को अभी काटना है या बाद में? – परन्तु जब गधे के सींग हैं ही नहीं। तो उसमें अभी या बाद का प्रश्न ही कहाँ है? इसी प्रकार कोई कहे कि शरीर की क्रिया करना बाद में तो आयेगा न? तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! तू इतना तो समझ कि तू आत्मा है और शरीर की क्रिया तू कर

www.vitragvani.com



नहीं सकता। तो फिर शरीर की क्रिया कब करना ? यह प्रश्न ही नहीं रहता। पहले अथवा बाद में जो किया जा सकता हो, वह करना आयेगा या जो न किया जा सकता हो, वह करना आयेगा ?

पहले अज्ञानभाव के समय भी जीव मात्रविकार को ही करता है; शरीर की क्रिया को तो उसने कभी किया ही नहीं है और समझने के बाद भी आत्मा में एकाग्रतारूपी क्रिया ही करने को आता है। शुद्ध ध्रुवस्वभाव को जानकर, उसमें ही प्रवृत्ति से धर्म होता है, बीच में पूजा, भक्ति, दया, दान इत्यादि शुभभावरूप प्रवृत्ति आती है परन्तु उस प्रवृत्ति से धर्म नहीं होता। साक्षात् सर्वज्ञदेव के प्रति राग भी पुण्यप्रवृत्ति है, धर्मप्रवृत्ति नहीं। बीच में / साधकदशा में वह शुभराग भले ही हो परन्तु उसके द्वारा तीन काल में भी कल्याण नहीं होता। निमित्त द्वारा, विकल्प द्वारा अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति द्वारा धर्म नहीं होता परन्तु शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से ही धर्म होता है।

धर्म कोई बाह्य से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है परन्तु आत्मा की स्वतन्त्र स्वावलम्बी दशा है। भाई! पहले मार्ग का निर्णय करना चाहिए कि मेरे शुद्ध चैतन्यघन स्वभाव को जानकर उसमें एकाग्रता करूँ, वही मेरा धर्म है; दूसरी प्रवृत्ति बीच में आवे तो भले ही हो, परन्तु उस प्रवृत्ति में मेरा धर्म नहीं है। निमित्त तो मुझसे भिन्न परवस्तु है, उसके द्वारा मेरा कल्याण नहीं हो सकता और पुण्य -परिणाम, विकार है, उसके द्वारा भी मेरा कल्याण नहीं है। मैं तो ज्ञातास्वभावी ध्रुव हूँ, मेरे ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही मेरा कल्याण है। इस प्रकार जिसने ज्ञान द्वारा निश्चय किया, उसे उसमें ही प्रवृत्ति द्वारा धर्म होता है।

www.vitragvani.com



अहो! ज्ञान प्रकाशी भगवान आत्मा का निर्णय किये बिना जीव को कभी धर्म नहीं होता। अन्तर में यह बात समझना चाहे तो आठ वर्ष की बालिका भी क्षण में समझ लेती है और न समझना चाहे तो द्रव्यलिङ्गी होकर अरबों वर्षों तक व्यवहारचारित्र का पालन करनेवाला भी नहीं समझता। अन्तर में शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र रुचि पड़ी हो तो कैसे समझ में आयेगा? जिसे अन्तर में शुद्ध आत्मा को समझने की रुचि होती है, वह इस बात को भलीभाँति समझ सकता है। आत्मा में सम्यग्दर्शन कैसे हो और मोह का अभाव कैसे हो? – उसकी यह बात है। व्याख्या में क्रम पड़ता है परन्तु 'पहले शुद्धात्मा को जाने और फिर उसमें प्रवृत्ति हो' – ऐसा भेद नहीं है। शुद्धात्मा का ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति – यह दोनों एकसाथ ही है; समझाने में क्रम पड़ता है।

कोई कहे कि 'हमने शुद्धात्मा को जाना है परन्तु हमारी प्रवृत्ति तो अभी बाहर में ही रहती है, शुद्धात्मा में जरा भी प्रवृत्ति नहीं होती।' – तो ऐसा कहनेवाले ने शुद्धात्मा को जाना ही नहीं है। शुद्ध आत्मा की अपार महिमा को जाने और उसमें प्रवृत्ति न हो – ऐसा होता ही नहीं है।

यहाँ पहले तो सम्यग्दर्शन की प्रवृत्ति की बात है, वही पहला धर्म है। इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि दूसरे प्रकार से धर्म मनवाते हैं, वह धर्म की विधि नहीं है। यहाँ तो अस्ति से बात ली है कि '.... उसे शुद्धात्मत्व होता है' और अनादि की मोह दुर्ग्रन्थि का नाश हो जाता है; इस प्रकार नास्ति की बात भी बाद में कहेंगे। टीका में अस्ति-नास्ति से कथन करने की आचार्य अमृतचन्द्रदेव की विशेष शैली है।

www.vitragvani.com



यह तो सर्वज्ञ से सिद्ध हुई, वस्तु के व्यवस्थित स्वभाव की बात है। जिस प्रकार एक और एक दो ही होते हैं, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता; इसी प्रकार यह भगवान सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान द्वारा देखा और जैसा है, वैसा कहा हुआ वस्तु का अबाधित स्वरूप है, उसमें कभी अन्तर नहीं पड़ता है।

भगवान! अनादि काल से आत्मा की भ्रान्ति के कारण तू इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। उस भ्रान्ति और संसारभ्रमण के अभाव का उपाय क्या? उसकी यह बात है। शरीर, मन, वाणी इत्यादि जड़ की क्रिया मैं करता हूँ – ऐसी मान्यता अथवा विषय –भोगों में सुखबुद्धि, वह भ्रम है, अज्ञान है, पाखण्ड है, अधर्म है, दु:ख है। वह कैसे मिटे?

मैं बाह्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्न हूँ, कोई बाह्य पदार्थ मुझे शरणभूत नहीं है, मैं ध्रुव शुद्धात्मा हूँ, वही मेरा शरण है, उसमें ही मेरा सुख है – ऐसा निर्णय करने पर उसमें प्रवृत्ति द्वारा आत्मा की शुद्धता होती है, यही भ्रम के अभाव का उपाय है। इसके द्वारा ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र होते हैं। साधक को बीच में / भूमिकानुसार व्यवहार आता है परन्तु उससे निर्मलता नहीं होती; निर्मलता तो शुद्धात्मा में प्रवृत्ति से ही बढ़ती है। सम्यग्दर्शन के बाद ही प्रतिक्षण शुद्धात्मा में प्रवृत्ति ही चारित्र की वृद्धि का कारण है। जितना राग होता है, वह शुद्धात्मा में प्रवृत्ति की कमजोरी से होता है।

सम्यग्दर्शन कैसे हो और मिथ्यात्व का अभाव कैसे हो? – यह उसकी व्याख्या है। अपने लिए अपना शुद्धात्मा ही ध्रुव है और अन्य सब अध्रुव है; इसलिए अपना शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने

www.vitragvani.com



योग्य है। ऐसा निर्णय करके शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह का अभाव होता है; इसलिए कहा है कि इस यथोक्त विधि द्वारा शुद्धात्मा को जो ध्रुव जानता है, उसे उसमें ही प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्त्व होता है। उस शुद्धात्मत्त्व की प्राप्ति के कारण अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र संचेतन लक्षणवाला ध्यान होता है और इससे अनादि संसार से बँधी हुई, अतिदृढ़ मोह दुर्ग्रन्थि छूट जाती है।

ध्रुव स्वभाव का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और मिथ्यात्व का नाश – एक साथ ही है परन्तु यहाँ क्रम से समझाया है। वाणी से कहने में समय लगता है परन्तु समझने में और स्थिरता में समय नहीं लगता। शुद्धात्मा में एकाग्र हुआ, वहाँ अनन्त शक्तिवाले परमात्मस्वभाव की एकाग्रतारूप ध्यान हुआ। चिन्ता का निरोध, वह ध्यान – यह बात नास्ति से है, वह ध्यान का वास्तविक लक्षण नहीं है परन्तु अकेले शुद्धात्मस्वभाव का ही सञ्चेतन रह जाए और दूसरी चिन्ता छूट जाए – इसका नाम वास्तविक ध्यान है। ऐसे आत्मध्यान से मोह का क्षय होकर संसार परिभ्रमण का अभाव होता है।

आत्मा कैसा है? आत्मा अनन्त शक्तिवाला चिन्मात्र है। चिन्मात्र स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, उसमें अनन्त चैतन्यशक्ति है, अर्थात् अनन्त का ज्ञान करे, वैसी शक्ति है परन्तु किसी का कुछ कर दे – ऐसी शक्ति तो उसमें बिल्कुल नहीं है। जैसे, दियासलाई के टोप में अग्नि होने की शक्ति विद्यमान है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में केवलज्ञान होने की सामर्थ्य है। पर्याय में एक

www.vitragvani.com



समय की मलिनता है, वह त्रिकालीस्वभाव में नहीं है। एक समय का विकार भी पर्यायदृष्टि से है, द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से तो एक समय का विकार भी चैतन्यशक्ति सम्पन्न भगवान आत्मा में नहीं है। आत्मा शुद्ध चिन्मात्र ही है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहा, इसलिए उसमें पुण्य नहीं है-पाप नहीं है परन्तु ज्ञानमात्र कहने से कहीं उसके आनन्दादि गुण उसमें से निकल नहीं जाते, वे तो सब ज्ञानमात्र में ही अभेदरूप से आ जाते हैं।

शुद्ध आत्मद्रव्य की शरण से निर्मलदशा प्रगट हुई और सदा वैसी निर्मल पर्याय प्रगट हुआ करेगी। आत्मा में अनन्त-अनन्त केवलज्ञान की पर्यायें प्रगट ही हुआ करें – ऐसी शक्ति वर्तमान में भरी है, इसलिए आत्मा अनन्त चैतन्यशक्तिवाला है। आत्मा, क्षेत्र से अनन्त नहीं परन्तु शक्ति से अनन्त है; आत्मा का क्षेत्र मर्यादित है परन्तु उसकी ज्ञान-सामर्थ्य अमर्यादित है। उस ज्ञान सामर्थ्य से ही आत्मा की महिमा है, क्षेत्र से महिमा नहीं है।

आत्मा में अन्तर्मुख होकर एकाग्रता से केवलज्ञान होता है परन्तु बाह्य में फैल कर एकाग्र नहीं होना पड़ता है। क्षेत्र से सर्वव्यापक हो तो ही आत्मा को केवलज्ञान होता है – ऐसा माननेवाले ने आत्मा के ज्ञानस्वभाव को जाना नहीं है। ज्ञान अपने स्वभाव में ही व्याप कर लोकालोक को जानता है परन्तु लोकालोक को जानने के लिए उसे लोकालोक में व्याप्त नहीं होना पड़ता। इसी प्रकार अन्तर की एकाग्रता से ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होते हैं; इसलिए अपने में ही अनन्त शक्ति भरी हुई है। जो ऐसे शुद्ध आत्मा को जाने, उसे ही उसमें प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्त्व होता है और उसे अनन्त शक्तिवाले चैतन्य में एकाग्र सञ्चेतनरूप ध्यान होता है।

www.vitragvani.com



यहाँ शुद्धात्मा का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उसका ध्यान – ऐसे तीन प्रकार कहे हैं परन्तु वे तीन भेदरूप नहीं हैं, एक साथ ही हैं। जहाँ ऐसा शुद्धात्मपना हुआ, वहीं जीव सम्यग्दृष्टि है और उसका मोह क्षय हो गया है।

चिन्ता का निरोध करना, वह ध्यान है; इस प्रकार अकेली नास्ति की बात है, वह ठीक नहीं है परन्तु एकाग्र सञ्चेतन, वह ध्यान का लक्षण है, उसमें अस्ति से बात है। किसमें एकाग्रता से चिन्ता का निरोध होता है ? स्वरूप में एकाग्रता के बिना चिन्ता का निरोध किसी भी प्रकार नहीं होता। मैं परमोत्कृष्ट चैतन्यघन विद्यमान आनन्दकन्द हूँ – ऐसा जानकर उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ एक शुद्धात्मा ही अग्र रहा, अर्थात् एक शुद्ध आत्मा ही विषय रहा, उसे ही चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान कहा जाता है।

ध्यान, चैतन्यस्वभाव में ही टिका, वहाँ दूसरे विषयों में से चित्त का निरोध सहज हो जाता है; स्व की अस्ति में पर की नास्ति आ जाती है। शुद्ध आत्मा को ही विषय बनाकर उसका लक्ष्य करने से निमित्त तथा विकार इत्यादि लक्ष्य में से छूट गये और अकेला शुद्धात्मा का अनुभव रहा – ऐसे अनुभव से मोह का क्षय हो जाता है।

– ऐसा अनुभव किसे होता है ?

जगत् में स्व और पर तत्त्व हैं, वे स्वयं सिद्ध स्वतन्त्र हैं और द्रव्य–गुण–पर्याय स्वरूप है – ऐसा जानकर, पर से भिन्न अपने ध्रुव स्वभाव के सन्मुख ढलनेवाले को शुद्धात्मा का अनुभवरूप ध्यान होता है परन्तु यदि स्वतन्त्र स्वयंसिद्ध आत्मा को नहीं माने,

www.vitragvani.com



आत्मा से भिन्न परतत्त्वों को नहीं माने, प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण है, उन्हें नहीं माने और उनकी वर्तमान अवस्था में विकार होता है, उसे नहीं माने तो उस जीव को चैतन्यस्वभाव में एकाग्रतारूप ध्यान करना नहीं होता है।

'ज्ञान भगवान' आत्मा है, वह ज्ञाता-द्रष्टा है; उसमें विकल्प का अभाव है परन्तु ज्ञान के साथ सुख-श्रद्धा-वीर्य, स्वच्छता, प्रभुता इत्यादि अनन्त शक्तियाँ हैं। जो जीव, चैतन्य का ध्यान करना चाहता है, अर्थात् ध्रुव स्वभाव के सन्मुख होकर उसमें एकाग्र होना चाहता है, उसे अनन्त शक्ति से अभेद चिन्मात्र आत्मा ख्याल में आता है। अनुभव में अकेला ज्ञान ही नहीं, अपितु ज्ञान के साथ अनन्त गुण होते हैं। ज्ञान, स्व में एकाग्र होने पर शान्ति भी हुई, अर्थात् सुख हुआ। वीर्य बाहर में कार्य करता था, वह स्वसन्मुख ढला। 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसा स्वीकारती हुई श्रद्धा, स्वभावसन्मुख ढली; चारित्र में भी आँशिक स्वरूप रमणता हुई। इस प्रकार ध्रुव चैतन्य में एकाग्रता से ज्ञानादि अनन्त शक्तियों की निर्मलता प्रगट होती है।

'एकाग्र सञ्चेतन लक्षण ध्यान' – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने ध्यान का महान् लक्षण बाँधा है। चैतन्यस्वभाव के निर्णय बिना कोई अकेली राग-द्वेष टालने की बात करता है तो वह बात मिथ्या है। राग-द्वेष का अभाव, वह नास्ति से है। किसकी अस्ति में रहकर उनकी नास्ति करेगा ? राग-द्वेषरहित अनन्त चैतन्यशक्तिवाले आत्मा को पहचान कर उसमें एकाग्रता किये बिना राग-द्वेष-मोह का अभाव नहीं होता है।

www.vitragvani.com



पहले अपने ध्रुव चैतन्यतत्त्व को भूलकर जीव अपने को बाह्य प्रवृत्ति का कर्ता मानता था, तब तो क्षणिक पुण्य-पाप का ही कर्ता और भोक्ता था; इसलिए विकार में एकाग्रतारूप आर्त और रौद्रध्यान था, अर्थात् अधर्मध्यान था। अब, शुद्ध स्वभाव को जानकर उसकी सन्मुखता की, उसे पर में एकाग्रता मिट कर शुद्ध आत्मस्वभाव में एकाग्रतारूप धर्मध्यान हुआ। स्वभाव में ढलने से विभाव का अभाव हो जाता है।

स्वभाव तो त्रिकाली ध्रुव रहनेवाला है और विभाव एक समयमात्र का है। अवस्था की एक समय की भूल से स्वयं अपने सम्पूर्ण स्वभाव को भूल रहा है। अपने को आप भूलकर हैरान हो गया, अर्थात् स्वयं अपनी भूल से ही परिभ्रमण करता है और उस भूल का अभाव करके स्वयं ही भगवान होता है; कोई दूसरा उसे परिभ्रमण नहीं कराता और कोई दूसरा उसे भव पार भी नहीं कराता। इसलिए आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु और स्वयं ही अपना मित्र है। भगवान आत्मा उलटेपन में भी स्वतन्त्र और सुलटेपन में स्वतन्त्र है।

प्रत्येक जीव अपने भाव को भोगता है। कोई जीव बाह्य वस्तु को कर्ता अथवा भोक्ता नहीं हैं। मुँह में लड्डू पड़े हों, उस समय भी जीव उन जड़ लड्डुओं को नहीं भोगता परन्तु जो राग करे वह उस राग को भोगता है तथा शरीर में तीव्र रोग हुआ, उस समय उस रोग को जीव नहीं भोगता परन्तु यदि द्वेष करे तो उस द्वेष को भोगता है।

शुद्धात्मा के अनुभव में धर्मी जीव मुख्यरूप से राग-द्वेष का

www.vitragvani.com



कर्ता अथवा भोगता नहीं होता परन्तु स्वभावदृष्टि में निर्मल पर्याय को करता है और उसके आनन्द को ही भोगता है।

मुझसे बाह्य व्यवस्थाएँ भले प्रकार से चलती हैं – ऐसा मानकर, अज्ञानी जीव पर तरफ के राग-द्वेष में ध्यान को लीन करता था, वह मिथ्याध्यान था। वह पलटकर श्रद्धा का जोर ध्रुव आत्मा की ओर ढला, इसलिए चैतन्य में एकाग्रता हुई। चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता करना ही शुरुआत में, मध्य में और अन्त में करने योग्य है। तात्पर्य यह है कि पहले से अन्त तक यह एक ही मोक्षमार्ग है; बीच में इसके अतिरिक्त अन्य भाव आवें तो वे मोक्षमार्ग नहीं हैं – ऐसा जानना चाहिए।

चैतन्य को चूककर पर में एकाग्रता, वह अपध्यान है। उसके दो प्रकार हैं –

1. तीव्र विकार में एकाग्रता, वह रौद्रध्यान है और

2. साधारण विकार में एकाग्रता, वह आर्तध्यान है।

चैतन्य में एकाग्रता होने पर वे दोनों प्रकार के अपध्यान नहीं रहते हैं। मैं चैतन्यतत्त्व हूँ और मेरी वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष हैं; मैं उनका अभाव करके निर्मलता प्रगट करना चाहता हूँ और वह निर्मल अवस्था अनन्त काल तक ऐसी की ऐसी हुआ करे, वैसी प्रगट करना चाहता हूँ – तो वह निर्मल अवस्था कहाँ से आयेगी ? जिसमें शक्तिरूप से विद्यमान हो, उसमें से वह प्रगट होगी। मेरे ध्रुव स्वभाव में अनन्त निर्मल अवस्थाएँ प्रगट होने की सामर्थ्य है; इस प्रकार अनन्त शक्तिवाले ध्रुव चैतन्य को लक्ष्य में लेकर उस एक का ही सञ्चेतन रहे, वह मोक्ष का कारण है; राग का सञ्चेतन

www.vitragvani.com



रहे तो संसार का नाश नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को अस्थिरता का राग होने पर भी, श्रद्धा में राग का सञ्चेतन नहीं है, किन्तु शुद्धात्मा का ही सञ्चेतन है।

बहुत से लोग अन्तर में तत्त्व का निर्णय किये बिना ध्यान के बहाने मूढ़ता का सेवन करते हैं। ध्यान का लक्षण क्या है? – यही कि एकाग्र सञ्चेतन। ध्यान, वह लक्ष्य है और एकाग्र सञ्चेतन उसका लक्षण है। जिसमें अकेले आत्मस्वभाव का अनुभवन होता है, वह आत्मध्यान है। ऐसा ध्यान किसे होता है।

सब मिलकर एक ही आत्मा हैं, जो ऐसा मानता है, उसे पर से भिन्न शुद्धात्मा का ध्यान नहीं होता। आत्मा, पर का करता है अथवा पुण्य से धर्म होता है – ऐसा माननेवाले को भी शुद्धात्मा का ध्यान नहीं होता। आत्मा को सर्वथा कूटस्थ और शुद्ध माननेवाले को भी ध्यान करना नहीं रहता और आत्मा को सर्वथा क्षणिक ही माननेवाले को भी ध्रुव के अवलम्बन बिना ध्यान किसका? वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा जाने बिना ध्यान नहीं हो सकता है।

प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। ध्रुव स्वभाव से आत्मा निर्मल है और एक समय की अवस्था में विकार है। वह विकार टलकर अविकारी पर्याय हो सकती है। इस प्रकार समस्त पड़खों को जाननेवाले को ही ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से आत्मा का ध्यान होता है। इस प्रकार ध्यान का स्वरूप कहा, उसमें सब व्यवहार तो आ जाता है परन्तु उसकी मुख्यता नहीं है। जिस प्रकार हजार कूटी अभ्रक होती है, वह क्षयरोग मिटाने योग्य पुण्य हो तो निमित्त कही जाती है; इसी प्रकार यदि अभेद ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन हो तो

www.vitragvani.com



अनेक भेदों का ज्ञान, मोह क्षय में कारण कहा जाता है। अभेद के आश्रय बिना अकेले भेद को जानने में रुकने से मोह का क्षय नहीं होता है। यहाँ तो मोह का क्षय हो – ऐसी अस्ति की ही बात है।

चैतन्यस्वभावी आत्मा के ध्यान से साकार उपयोगवाले को अथवा अनाकार उपयोगवाले को, दोनों को अविशेषरूप से एकाग्र सञ्चेतन की प्रसिद्धि होने से अनादि-संसार से बँधी हुई अति दृढ़ मोह दुर्ग्रन्थि छूट जाती है। इस प्रकार मोह का नाश, वह शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है। शुद्धात्मा की उपलब्धि, वह अस्ति है और मोह का नाश, वह नास्ति है – दोनों एक साथ ही हैं।

यहाँ साकार, अर्थात् ज्ञान और अनाकार, अर्थात् दर्शन समझना चाहिए। ज्ञान उपयोग भेद पाड़कर सब जानता है, इसलिए उसे सविकल्प कहते हैं और दर्शन उपयोग भेद पाड़े बिना सामान्यरूप से सब देखता है, इसलिए उसे निर्विकल्प कहते हैं। उस साकार अथवा अनाकार उपयोगवाले को अविशेषरूप से शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा मोह का क्षय हो जाता है। ज्ञान अथवा दर्शन दो में से कोई भी एक व्यापार चलता हो परन्तु एक शुद्ध आत्मा का ही सञ्चेतन होने से उसके अनादि का मोह क्षय हो जाता है।

चैतन्यस्वभाव को भूलकर राग-द्वेष को अपना माना, वह अनादि संसार से बँधी हुई मोह ग्रन्थि है। यद्यपि भूल तो एक ही समय की है परन्तु उस भूल का प्रवाह अनादि से चला आ रहा है। यदि एक बार भी उस मिथ्या-मान्यतारूप मोह का सर्वथा क्षय कर दिया हो तो फिर से मिथ्यात्व नहीं होता। जिस प्रकार चने में से वृक्ष और वृक्ष में से चना – ऐसा प्रवाहरूप से वह अनादि होने पर भी

www.vitragvani.com



चने को सेंक कर उगने की योग्यता का नाश करने से वह प्रवाह रुक जाता है; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में अनादि प्रवाहरूप से भूल होने पर भी चैतन्य की श्रद्धा द्वारा उसका नाश हो जाता है।

मोह की गाँठ को अति दृढ़ कहा है, उसका यह अर्थ नहीं है कि वह छूट ही नहीं सकती। विपरीत पुरुषार्थ से बँधी हुई अति दृढ़ मोह की गाँठ, स्वभाव के पुरुषार्थ से क्षणभर में छूट जाती है। मोह की अति दृढ़ गाँठ अनादि की है क्योंकि पूर्व के अनादि काल में उसे छोड़ने का यथार्थ उपाय भी कभी नहीं किया गया है। उसे छेदने का पुरुषार्थ अपने हाथ में है, शुद्ध आत्मस्वभाव में ढलने पर अति दृढ़ मोह की दुर्ग्रन्थि छिद जाती है। जहाँ स्वभाव में एकाग्रता की अस्ति हुई, वहाँ विभाव में एकाग्रता मिट गयी।

इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही मोह का क्षय होता है। ●●

## हम भक्ति से वन्दन करते हैं

अहा! वे सन्त तो चैतन्य के निर्विकल्प शान्तरस का वेदन करनेवाले हैं, वहाँ उन्हें बाह्य विकल्पों की काँक्षा क्यों हो? वे परम निष्काँक्ष हैं। अन्तर में परमसुखरस के पान से जो स्वयं तृप्त हुए हैं, वे अब दु:खजनक विषयों की इच्छा क्यों करेंगे? — ऐसे परम नि:काँक्ष भाववाले जैन साधु होते हैं। सन्तों के ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दमय चैतन्य-परिणमन को पहिचानकर, हम भक्ति से उनकी वन्दना करते हैं। *( पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी )*

जन्मकल्याणक प्रवचन - 3

## अनन्त जन्म-मरण की कारणभूत

# मोहग्रन्थि का क्षय कब ?

देखो आज तीर्थङ्कर भगवान के पञ्च कल्याणक में जन्मकल्याणक महोत्सव है। सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता है। पहले सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् शुभविकल्प से वह कर्म बँधता है। भगवान को पूर्व में आत्मभानसहित की भूमिका में ऐसा तीर्थङ्कर नामकर्म बँधा था। अब भगवान के आत्मा का यह अन्तिम भव है। भगवान का जन्म होने पर इन्द्र जन्मकल्याणक मनाने आते हैं और मेरुपर्वत पर ले जाकर भगवान का जन्माभिषेक करते हैं। उसमें वस्तुतः तो पुण्य की महिमा नहीं, किन्तु भगवान के आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की महिमा है, उसके बिना तीर्थङ्कर पद नहीं होता है।

आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान कहीं परलक्ष्य से पुण्य-पाप में अटकता है, वह विकार है। अनादि से अपने स्वरूप को भूलकर राग-द्वेष, शरीर-मन-वाणी इत्यादि में अपनेपने की मान्यता की है, इसका नाम मिथ्यात्व और अधर्म है। वह

www.vitragvani.com



विपरीत मान्यता कैसे मिटे ? – उसकी बात इस गाथा में आचार्यदेव समझाते हैं।

जाननेवाला आत्मा शरीरादि से अत्यन्त भिन्न है, उसके स्वभाव में विकार नहीं है परन्तु उस स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप में ही अपना स्वरूप मानकर यह आत्मा चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करता है। चैतन्य को चूक कर अनादि से विपरीत ध्यान किया है, अर्थात् पर में ही रुका हुआ है और परलक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप को अपना स्वभाव माना है। पुण्य-पाप में एकाग्रता, वह मिथ्याध्यान है। पुण्य-पापरहित आत्मा के शुद्धज्ञायक स्वभाव का ध्यान पूर्व में अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी नहीं किया। मैं चैतन्यस्वभाव हूँ – ऐसा पहचान कर, उसमें ही ज्ञान रुके, वह धर्मध्यान है, वह आत्मध्यान है। यदि एक सेकेण्ड भी ऐसा ध्यान करे तो मुक्ति हुए बिना नहीं रहती है।

शरीरादि की क्रियाएँ जड़ की हैं, उस जड़ की क्रिया को मैं करता हूँ – ऐसा मानना, वह चैतन्यमूर्ति आत्मा का अज्ञान, अर्थात् मिथ्याध्यान है। जैसे, दर्पण की स्वच्छता स्व-पर को दर्शाती है; उसी प्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव स्व-परप्रकाशक दर्पण है। उसमें सब ज्ञात होता है, परन्तु जिस प्रकार अपने में प्रतिबिम्बरूप से ज्ञात होनेवाले पदार्थों को दर्पण अपना मानकर पकड़ नहीं रखता, उसी प्रकार ज्ञानदर्पण में शरीर-मन-वाणी, देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि पदार्थ ज्ञेयरूप से ज्ञात हों – ऐसा उनका स्वभाव है, परन्तु उन शरीरादि को अपना माने अथवा उनमें फेरफार करे – ऐसा ज्ञानदर्पण का स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाववाले शुद्ध आत्मा

www.vitragvani.com



को जानकर, जो उसमें प्रवृत्ति करता है, उसे उसका ध्यान होता है और उस ध्यान में एक शुद्ध आत्मा का ही अनुभवन प्रसिद्ध है, इसलिए उसका अनादि का मोह नष्ट हो जाता है।

जो ज्ञान, आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर स्थिर हुआ, उस ज्ञान में एक भगवान आत्मा की ही प्रसिद्धि है और मोह का अभाव है। ज्ञान की स्व में एकाग्रता का नाम सम्यक्ध्यान है और ऐसा ध्यान करनेवाले को मोह की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् अनादि का मोह छूट जाता है।

मैं जाननेवाला हूँ – ऐसा निर्णय करके, अन्तर स्वभाव की दृष्टि की, उसमें से ज्ञान में एकाग्रता की प्रसिद्धि हुई, अर्थात् ध्रुव आत्मा प्रसिद्ध हुआ। अज्ञानदशा में विकार को अपना मानकर उसमें एकाग्र होता था, तब विकार के वेदन की प्रसिद्धि थी, अर्थात् अनात्मा की प्रसिद्धि थी। अब, धर्मी को शुद्ध आत्मा के अनुभव की प्रसिद्धि हुई। मिथ्यात्व से संसार में परिभ्रमण करता था, वह वहाँ से हटकर, अब स्वभावसन्मुख हुआ और आत्मा में एकाग्र होने लगा – ऐसी आत्मध्यान की दशा में सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन किसी बाहर के क्रियाकाण्ड से नहीं होता। सम्यग्दर्शन, अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार, आत्मा का भान, आत्मा का ध्यान, आत्मा में एकाग्रता, यही धर्मी जीव का क्रियाकाण्ड है।

यहाँ निश्चयप्रधान वर्णन से ध्यान के लक्षणों में 'चिन्ता का निरोध' – ऐसी नास्ति की बात न करके 'एकाग्र सञ्चेतन' कहकर अकेली शुद्धात्मा की अस्ति की ही बात की है। उस अस्ति के ध्यान में मोह की नास्ति हो जाती है।

www.vitragvani.com



मैं शुद्ध चैतन्य अखण्डानन्द परिपूर्ण ध्रुव हूँ – ऐसा सञ्चेतन / अनुभव करने से आत्मा का ध्यान प्रसिद्ध होता है और मोह नष्ट होता है, इसका नाम अपूर्व धर्म है, इसमें ही आत्मकल्याण है; इसके अतिरिक्त बाह्य में कहीं आत्मकल्याण नहीं है।

बहिर्लक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप के परिणाम में धर्म मानना तो मिथ्यात्व है। पुण्य-पाप से रहित शुद्ध आत्मा में एकाग्रता ही धर्म है। जिन्होंने ऐसी परिपूर्ण एकाग्रता प्रगट की है – ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं, उन सर्वज्ञ भगवान को तथा उनके समान अपने ध्रुव आत्मस्वभाव को पहचान कर जो अन्तरोन्मुख हुआ, उसे एकाग्र सञ्चेतनरूप ध्यान होता है। पहले श्रद्धा की एकाग्रता हो, वह सम्यग्दर्शन है; चारित्र की एकाग्रता होने पर वीतरागता होती है और ज्ञान की पूर्ण एकाग्रता होने पर सर्वज्ञता प्रगट होती है। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों में एक आत्मा में ही एकाग्रता है; इसलिए यह सम्यक् एकान्त है। इसका फल क्या है ? – वहाँ मोह का क्षय हो जाता है, वह इसका फल है, अर्थात् सम्यक् एकान्त का फल वीतरागता है।

सम्यक् एकान्त में अकेले शुद्ध आत्मा की अस्ति है और उसमें मोह की नास्ति है; इसलिए वहाँ भी अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त हो गया। स्वभाव में एकाग्रता हो, वहाँ मोह में एकाग्रता नहीं होती। शुद्ध आत्मा की अस्ति की ओर ढलने पर दूसरे भावों से नास्ति हो जाती है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा में एकाग्रता ही मोक्ष का मार्ग है।

अहो ! चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने सब

www.vitragvani.com



कुछ किया परन्तु एक ऐसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान कभी नहीं किया। यह दुर्लभ मनुष्यभव पाकर वही करने योग्य है।

देखो, श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि –

**यम नियम संयम आप कियो,**
**पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो।**
**वनवास लयो मुख मौन रह्यो,**
**दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो...**
**सब शास्त्रन के नय धारि हिये,**
**मत मण्डन-खण्डन भेद लिये।**
**यह साधन बार अनन्त कियो,**
**तदपि कछु हाथ हजू न पयो॥**
**अब क्यों न विचारत है मन से**
**कछु और रहा उन साधन से॥**

जीव अनन्त काल से पञ्च महाव्रत, भगवान की भक्ति, दान, शास्त्राभ्यास इत्यादि कर-करके भी संसार में ही परिभ्रमण कर रहा है क्योंकि अन्दर में चिदानन्दी भगवान आत्मा कौन है ? उसका एक समय भी इसने भान नहीं किया। वह भान किये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना भव-भ्रमण नहीं मिटता।

जीव ने अनादि काल में सम्यग्दर्शन के बिना कठोर नियम लिये, बाह्य त्याग किया, इन्द्रिय दमन किया, तप किया परन्तु अन्तर में अखण्ड चेतनस्वभाव है, उसमें एकाग्र नहीं हुआ। आत्मा को लक्ष्य में लिये बिना पर से और पुण्य से लाभ मानकर उसमें अटक रहा है। विशाल राजपाट छोड़कर बहुत त्याग और मन्द

www.vitragvani.com



कषाय किया, मौन रहा, जङ्गल में गुफा में जाकर घण्टों-घण्टों तक पद्मासन लगाकर बैठा परन्तु वह सब तो विकार और जड़ की क्रिया है, उससे आत्मा का कुछ कल्याण नहीं हुआ। अन्दर के चैतन्य भगवान को छोड़कर बाहर के भगवान के जाप जपे और ढेर सारे उपवासादि करके तप तपा, घर-बार के प्रति उदासीनता धारण की; इस प्रकार पर के लक्ष्य से बहुत किया परन्तु इन सबसे पृथक् आत्मा स्वयं कौन है – उसकी प्रतीति नहीं की।

यदि शास्त्र पढ़े तो वाद-विवाद करके मण्डन-खण्डन किया, ऐसे-ऐसे साधन जीव ने अनन्त बार किये और उसमें धर्म माना, परन्तु अभी तक इसके भव-भ्रमण का अन्त नहीं आया क्योंकि मूलभूत साधन बाकी रह गया है। इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि अरे प्रभु! तू अब अन्तर में विचार क्यों नहीं करता कि इन सबसे दूसरा कौन सा साधन बाकी रह गया है? हे भाई! वह मूलभूत साधन सद्गुरु के बिना तुझे अपने आपसे समझ में नहीं आयेगा। शुद्धात्मा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना ही जीव का कल्याण नहीं होता है। सद्गुरु के बिना उसका भेद / रहस्य ज्ञात नहीं होता।

अरे आत्मा! तेरी चैतन्य जाति सबसे भिन्न है। इसमें पुण्य-पाप, वह तेरा स्वरूप नहीं है। शरीर की क्रिया का प्रवर्तन भी तेरा नहीं है; तू तो जाननहार चेतनमूर्ति है। अन्तर में ऐसे चेतन की मुख्यता ही सच्चा साधन है, परन्तु स्वच्छन्दता से, अर्थात् सद्गुरुगम के बिना वह समझ में नहीं आता है।

चैतन्यतत्त्व अन्तर में है, उसे भूलकर जगत् के जीव बाहर की क्रिया में बहुत दौड़ते हैं, धर्म, ऐसा आत्मा का स्वभाव, उसके

www.vitragvani.com



भान के बिना पुण्य-पाप के द्वारा बाहर में दौड़ की परन्तु अन्तर के चैतन्य का चमत्कार कहीं बाहर की दौड़ से खिलेगा ? हे जीव ! अपने आत्मधर्म को विकसित करने के लिए तू धैर्यवान हो ! धैर्यवान् होकर अन्दर में उतर और गुरुगम को साथ ले। अनन्त काल का तेरा अन्तरङ्ग चैतन्यतत्त्व तेरे ख्याल में नहीं आया है और तूने बाहर में दौड़ लगाई है। मन के विकल्प द्वारा दौड़ करके दया, भक्ति इत्यादि पुण्य में धर्म मानकर रुक गया है परन्तु यदि शुद्ध आत्मा की प्रीति से विचारे तो अन्तर में समीप ही कल्याण है। अपना कल्याण अपने से दूर नहीं है परन्तु गुरुगम से चैतन्य में प्रीति जोड़ना चाहिए।

अहो ! मैं स्वयं परमात्माशक्ति का भण्डार प्रभु हूँ। जितने जीव भगवान हुए, वे सब अन्तर में एकाग्रता से ही हुए हैं। मैं भी अपने स्वभाव में एकाग्रता से भगवान होऊँ – ऐसी मुझमें सामर्थ्य है। मैं आत्मा जानने-देखनेवाला हूँ, परसन्मुखता का विकार, वह मैं नहीं हूँ। ऐसे स्वभाव का निर्णय करना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का और मिथ्यात्व के नाश का उपाय है; इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय पुण्यबन्ध का उपाय है। शुद्ध आत्मस्वभाव की एकाग्रता का जो सञ्चेतन है, वही धर्म है।

अब तक पर में एकाग्रता से विकार की और अज्ञान की प्रसिद्धि थी। अब भगवान आत्मा अन्तर से जागृत हुआ, वहाँ ध्यान में चैतन्य की प्रसिद्धि हुई। पहले अज्ञानभाव में सम्पूर्ण आत्मा अप्रसिद्ध था और अब यथार्थ भान होने पर ज्ञान में सम्पूर्ण आत्मा प्रसिद्ध हुआ। यह तो अभी चौथे गुणस्थान की, अर्थात् धर्म

www.vitragvani.com



की इकाई की बात है। परमात्मा को तेरहवाँ गुणस्थान होता है; मुनिराज को छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता है; श्रावक को पाँचवाँ गुणस्थान होता है और यह तो चौथे गुणस्थान की बात है। इसलिए मुनि अथवा श्रावक होने से पहले आत्मा की सच्ची श्रद्धारूप धर्म कैसे हो? – यह उसकी बात है। यहीं से धर्म की इकाई की शुरुआत होती है।

अन्तर में ढल कर ध्रुवस्वभाव में एकाग्र हुआ, वहाँ 'एकाग्र सञ्चेतन' हुआ, वही सम्यग्दर्शनरूपी ध्यान है। सम्यक् श्रद्धा ने एक शुद्ध आत्मा को ही ध्येय में लिया है, उसका नाम एकाग्र सञ्चेतन है और वह एकाग्र सञ्चेतन होने से अनादि की दृढ़ मोह दुर्ग्रन्थि छूट जाती है। स्वभाव में एकाग्र होने पर, विभाव का अभाव हो जाता है। जहाँ स्वभावरूप से उत्पाद हुआ, वहाँ विकार का उत्पाद नहीं होता। जीव को अनादि के मोह की गाँठ ऐसी दृढ़ है कि साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान आकर कहे कि पुण्य, विकार है; उससे आत्मा का धर्म नहीं होता तो भी विपरीत जीव अपनी मोह ग्रन्थि को नहीं छोड़ता है।

अज्ञानी ने विकार की रुचि की पकड़ चींटी की तरह इस प्रकार की है कि प्राण जाये तो भी उसे नहीं छोड़ता। अनादि से अज्ञानी को व्यवहार की, पुण्य की और निमित्त की मुख्यता की पकड़ है, उसे वह नहीं छोड़ता और जहाँ तक व्यवहार की, पुण्य की और निमित्त की मुख्यता नहीं छूटती, वहाँ तक परमार्थ चैतन्यस्वभाव की मुख्यता नहीं होती और उसकी मुख्यता बिना स्वभाव का ध्यान नहीं होता स्वभाव के ध्यान बिना धर्म नहीं होता।

www.vitragvani.com



अज्ञानी जीव अपने अखण्डानन्द चैतन्य की मुख्यता की प्रतीति नहीं करता और व्यवहार की मुख्यता पकड़ी है, उसे नहीं छोड़ता। यद्यपि व्यवहार की मुख्यता की पकड़ में अपनी पर्याय का घात होता है, तथापि उस विपरीत पकड़ को नहीं छोड़ता। जैसे, अपनी देह पर्याय नष्ट होती हो, तथापि कीड़ा मुख की पकड़ नहीं छोड़ता, उसी प्रकार अज्ञानी ने पुण्य और व्यवहार के आश्रय से धर्म मानकर उसकी मुख्यता की पकड़ कर रखी है, उसमें अपनी पर्याय का (निर्मलता का) घात होने पर भी अज्ञानी उस पकड़ को नहीं छोड़ता है।

अभेदस्वभाव की मुख्यता और भेद-विकार अथवा निमित्त की गौणता नहीं करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता और न मिथ्यात्व का अभाव ही होता है। सम्यग्दर्शन, शुद्ध आत्मा के ध्यान से होता है और उस ध्यान में एक शुद्ध आत्मा की ही अग्रता / मुख्यता होती है। उसमें एकाग्रता के सञ्चेतन की प्रसिद्धि हुई, अर्थात् एक आत्मा की ही मुख्यता का अनुभव हुआ; पर निमित्त की, विकार की अथवा भेद की मुख्यता का अनुभव नहीं रहा, इसके अतिरिक्त यदि निमित्त के सन्मुख, विकार के सन्मुख और भेद के सन्मुख देखा करे तो कभी भी मोह का अभाव नहीं होता।

भाई! यह बात तो भगवान की ओम् ध्वनि में से आयी है कि जो चैतन्यस्वभाव में एकाग्र हुआ, उसकी मोह ग्रन्थि छूट ही जाती है। आत्मस्वभाव की ऐसी समझ के बिना धर्म नहीं होता है।

भगवान के द्वारा कथित वस्तुस्वभाव को स्वयं समझे तो उपचार से 'भगवान ने महान् उपकार किया' – ऐसा कहा जाता

www.vitragvani.com



है, परन्तु समझे बिना उपकार क्या? स्वयं समझे बिना उपकार कैसे मानेगा? भगवान ने जो कहा है, उसे गुरुगम से स्वयं समझे नहीं तो उपकार किसका मानें? स्वयं समझे तो ही सामने निमित्त में उपकार का आरोप आता है। स्वयं समझे बिना उपकार किसका? माल बिना वारदान किसका? जैसा माल भरे, उसका वारदान कहलाता है। उसी प्रकार देव-गुरु के द्वारा कथित चैतन्यस्वभाव को जाने तो स्वयं देव-गुरु में निमित्तपने का आरोप करता है। आत्मा की समझ बिना कहीं गाड़ी आगे – ऐसा नहीं है। जीव ने एक समय भी आत्मा की स्वभाव जाति को जानने का प्रयत्न नहीं किया है। आत्मा के स्वभाव का सीधा रास्ता छोड़कर उल्टे रास्ते पर ही दौड़ा है और इसीलिए संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

एक बार एक भाई गाड़ी जोतकर से पालीयाद बोटाद जाने के लिए निकले। गाड़ी जोतकर रात्रि में हाँका, पाँच गाँव जाना था, उसमें से जहाँ थोड़े दूर बाबरकोट के झरने तक गये, वहाँ तो अँधेरे में रास्ता भूलकर दूसरे रास्ते लग गये। तीन घण्टे तक बहुत चले और प्रातःकाल हुआ तो पूछा कौन सा गाँव है? सामने से उत्तर मिला पालीयाद का मैदान। उन्हें तो ऐसा लगा कि अब बोटाद आया होगा परन्तु यह तो अभी पालयाद के मैदान में ही खड़े हैं। रास्ता भूल गये, इसलिए वहीं के वहीं थे।

इसी प्रकार अज्ञानी जीव, मोक्ष का सच्चा मार्ग क्या है? – यह नहीं जानता और पुण्य को मोक्ष का मार्ग मानता है। पुण्य तो संसार का मार्ग है परन्तु वह अज्ञानभाव से पुण्य को मोक्ष का मार्ग मानता है। वह अज्ञानी जीव, पुण्य-पापरूपी दो बैल जोतकर उलटे मार्ग

www.vitragvani.com



पर गाड़ी हाँक रहा है। फिर पूछता है कि कितने देर है मोक्ष को ? परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई ! तू तो जहाँ था, वहीं का वहीं है, अर्थात् संसार का संसार में ही खड़ा है; अभी तूने मोक्ष का सच्चा रास्ता ही कहाँ जाना है ? अज्ञान से जहाँ था, वहीं का वहीं है। भाई ! तू रास्ता भूल गया है, इसलिए सद्गुरु को पूछकर मोक्ष का सच्चा मार्ग जान। सद्गुरुगम में स्वभावाश्रित मोक्ष का मार्ग जानकर ज्ञानस्वभाव का वेदन करने से भगवान आत्मा के अनुभव की प्रसिद्धि होती है और मोह का नाश होता है। यही मोक्ष का मार्ग है, इसके अतिरिक्त दूसरे रास्ते से मोक्ष में नहीं पहुँचा जाता है।

शुद्धात्मा के अनुभव से ही मोह का नाश होता है, इसलिए मोह ग्रन्थि का भेदन ही शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है। त्रिकाली शुद्ध आत्मा की प्रतीति / अनुभव, वह अस्ति है और मिथ्यात्व का नाश, वह नास्ति है।

यहाँ कथित ऐसे शुद्धात्मा के भानसहित ही श्री तीर्थङ्करदेव का आत्मा जन्मता है। देव-देवियाँ सेवा करते हैं, रत्नों की वृष्टि होती है और इन्द्र, प्रभु का जन्मकल्याणक मानते हैं। यह सब तो पुण्य का प्रभाव है परन्तु ऐसा पुण्य किसे बँधता है ? – जिसे आत्मा का भान हो और पुण्य की भावना न हो, उसे ही राग से ऐसा पुण्य बँध जाता है।

यद्यपि तीर्थङ्करप्रकृति का कर्म बँधना, वह आत्मा के धर्म का फल नहीं है परन्तु वह प्रकृति, धर्मात्मा की भूमिका में ही बँधती है अर्थात् आत्मज्ञान के बाद ही तीर्थङ्करप्रकृति बँधती है। उन तीर्थङ्कर भगवान का जन्म होने पर तीन लोक में दिव्य प्रकाश होता है।

www.vitragvani.com



आज यहाँ भगवान के जन्मकल्याणक महोत्सव का दृश्य हुआ है। यहाँ तो उपचार से निक्षेप करके कल्याणक बतलाया गया है। साक्षात् भगवान के पञ्च कल्याणक तो किसी विशेष भाग्यशाली को ही नजरों में पड़ते हैं और उसमें भी वस्तुत: तो जो चैतन्यस्वभाव के भानसहित देखता है, उसने ही साक्षात् नजर से भगवान के कल्याणक देखे कहे जाते हैं; दूसरों ने तो मात्र भगवान को बाह्य देहादिक से देखा है परन्तु सच्चे भगवान को नहीं देखा। अपने को तो यहाँ पञ्च कल्याणक महोत्सव में भी आत्मा की समझ की मुख्यता है। पञ्च कल्याणक में गर्भ और जन्मकल्याणक के दृश्य हुए हैं; अभी दीक्षा और ज्ञानकल्याणक इत्यादि दृश्य होंगे, वे सब देखने योग्य हैं।

पञ्च कल्याणक के उत्सव में होनेवाला शुभराग, आत्मा का लक्षण नहीं है परन्तु चैतन्य ही आत्मा का चिह्न है। उस चैतन्य चिह्न को जाने बिना धर्म नहीं होता। जिस प्रकार लौकिक में अङ्क और अक्षर के ज्ञान बिना खाता-बही नहीं लिखे जा सकते; उसी प्रकार धर्म में अङ्क, अर्थात् चैतन्य चिह्न और अक्षर, अर्थात् अविनाशी ध्रुवस्वभाव को जाने बिना धर्म नहीं होता। ज्ञान लक्षण से अविनाशी आत्मा को जानकर उसमें एकाग्रता से ही आत्मा में धर्म का नामा लिखा जाता है।

इस शास्त्र के मूल सूत्रों की रचना करनेवाले भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले इस भरतक्षेत्र में साक्षात् मौजूद थे, वे जङ्गल में बसते थे, वे महान् दिगम्बर सन्त थे। अहो! इस पञ्चम काल में उन्होंने तीर्थङ्कर जैसा कार्य किया है और इस

www.vitragvani.com



शास्त्र के टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव भी हजार वर्ष पहले हुए महामुनि थे, उन्होंने पञ्चम काल में गणधर जैसा कार्य किया है। वे कहते हैं कि इस भगवान शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का फल मिथ्यात्व का नाश है। पुण्य-पाप को अपना स्वभाव माननेरूप मिथ्यामान्यता, शुद्धस्वभाव की एकाग्रता से टूट जाती है। शुद्ध आत्मा में एकाग्रता के अतिरिक्त मोह के अभाव का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिस प्रकार शरीर में तिल्ली की गाँठ होती है; उसी प्रकार आत्मा में अनादि से मिथ्यात्व की गाँठ है। श्रद्धा में त्रिकाली शुद्ध स्वभाव का पाचन बिना, अर्थात् प्रतीति बिना वह गाँठ नहीं टूटती।

जिस प्रकार अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहकपना है; उसी प्रकार चैतन्य ज्योत आत्मा में श्रद्धा, वह पाचक है, वह सम्पूर्ण स्वभाव को पचा देती है, स्वीकार लेती है। ज्ञान, वह प्रकाशक है, वह स्व-पर को जानता है और चारित्र, वह दाहक है, वह मोह को जला कर भस्म करता है।

जिस प्रकार शरीर में तिल्ली की गाँठवाले को पाचन शक्ति नहीं रहती; उसी प्रकार जिसे आत्मा में मिथ्यात्वरूपी तिल्ली की गाँठ है, वह सम्पूर्ण आत्मा को प्रतीति में पचा नहीं सकता; उसका ज्ञान, स्व-पर को प्रकाशित नहीं कर सकता और उसका चारित्र, विकार का नाश नहीं कर सकता; वह मात्र क्षणिक पुण्य-पाप की ही प्रतीति और अनुभव करके संसार में ही परिभ्रमण करता है। यहाँ तो वह परिभ्रमण कैसे मिटे ? – इसी की मुख्यता है।

अवस्था में क्षणिक पुण्य-पाप होता है, वह विकार है। अज्ञानी

www.vitragvani.com



अपने को पुण्य-पाप जितना ही मानता है परन्तु ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव को वह नहीं मानता है, उसे मिथ्यात्व की ग्रन्थि बँधी हुई है; उसकी प्रतीति में त्रिकाली परमानन्दस्वभाव का उसे पाचन नहीं होता है।

मैं एक समय में परिपूर्ण स्वत: सिद्ध अनन्त ज्ञानशक्ति से भरपूर परमात्मा हूँ - ऐसे सम्पूर्ण स्वभाव को श्रद्धा में पचा देने की आत्मा में सामर्थ्य है। एक समय की सम्यग्दर्शन पर्याय में सम्पूर्ण परमात्मस्वभाव को स्वीकार करने की ताकत है। जिसने एक समय में त्रिकाली स्वभाव को प्रतीति में लिया, उसे मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। श्रद्धा की पाचक शक्ति, मिथ्यात्व का नाश करती है; ज्ञान की प्रकाशक शक्ति, अज्ञान अन्धकार का नाश करती है और चारित्र की दाहक शक्ति, पुण्य-पाप के विकारी भावों को जला देती है।

जीव ने अनन्त काल में कभी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं किया है। श्रद्धा में अपने परमात्मस्वभाव को कभी नहीं पचाया। यदि एक बार भी श्रद्धा में सम्पूर्ण परमात्मस्वभाव को पचा ले तो उस स्वभाव के आश्रय से पर्याय की पुष्टता होकर अल्पकाल में परमात्मा हुए बिना नहीं रहेगा।

आत्मा स्वयं स्वत:सिद्ध स्वतन्त्र है, कोई दूसरा उसका कर्ता नहीं है। जो निमित्त से लाभ-हानि मानता है, उसे अपने स्वयंसिद्ध शुद्ध आत्मा की मान्यता नहीं है। स्वयंसिद्ध शुद्ध आत्मा की मान्यता होने पर निमित्त से लाभ-हानि की मान्यता मिट जाती है।

जीव ने अनन्त काल में सच्ची बुद्धि से इस बात का श्रवण

www.vitragvani.com



नहीं किया है। दूसरे के साथ मिलावटरहित आत्मा अकेला परिपूर्ण है। पर से निरपेक्ष अकेले आत्मा में अपूर्णता अथवा अशुद्धता नहीं होती – ऐसा निर्दोष स्वभाव श्रद्धा में आने पर अनादि का मिथ्यात्व मिट जाता है – यही सबसे पहला अपूर्व धर्म है।

इस प्रवचनसार की 194 वीं गाथा में यह कहा कि शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल मोहग्रन्थि का छेद है और अब 195 वीं गाथा कहते हैं कि उस मोहग्रन्थि के छेद का फल अक्षयसुख की प्राप्ति है। इस प्रकार दो गाथाओं में सम्पूर्ण बात समाहित कर दी है।

मोहग्रन्थि के छेदन से क्या होता है ? वह कहते हैं —

**जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।**
**होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥ 195॥**

**मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दुःख में।**
**समभाव हो वह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें॥**

जो मोहग्रन्थि को नष्ट करके, राग-द्वेष का क्षय करके, सम सुख-दुःख होता हुआ श्रामण्य में, अर्थात् मुनिपने में परिणमित होता है, वह अक्षय सौख्य को प्राप्त करता है।

मोहग्रन्थि का छेद कैसे होता है ? यह बात पूर्व गाथा में कह दी है। शुद्ध स्वभाव की प्रतीति की है, इसलिए अब उसमें ही एकाग्र होना रहा। उस एकाग्रता के जोर से शुद्धता बढ़ती जाती है और राग-द्वेष क्षय होते जाते हैं। जिस प्रकार हाथ में मजबूत डोरा बाँधा हो, उसकी गाँठ छूट जाने पर डोर का बल ढीला पड़ जाता है; उसी प्रकार जीव, मिथ्यात्वरूपी गाँठ से बँधा था, वह गाँठ

www.vitragvani.com



छूटने पर त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि से पुण्य-पाप का झुकाव ढीला होकर वह टूटने लगा। जहाँ गाँठ ढीली पड़ी, वहाँ दीर्घ काल तक बँधन नहीं टिक सकता। इसी प्रकार जहाँ मिथ्यात्व मिटा, वहाँ राग-द्वेष दीर्घ काल तक नहीं रह सकते। मोहग्रन्थि का भेदन हुआ, अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभाव में झुका, वहाँ किसी को अपना मित्र अथवा शत्रु मानकर राग-द्वेष करना नहीं रहा; इसीलिए श्रद्धा में तो समभाव हो ही गया। अब शुद्धात्मा में विशेष लीनता से अस्थिरता के राग-द्वेष का भी क्षय करके वीतरागी समभाव और केवलज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा।

पहले शुद्धात्मा के भान से दर्शनमोह का तो नाश किया है। तत्पश्चात् स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष का अभाव करके वीतरागी मुनि होकर जीव, अक्षयसुख को प्राप्त करता है – ऐसी पूर्ण बात ले ली है।

– अक्षय सुख की प्राप्ति का कारण मोहग्रन्थि का भेदन है और मोहग्रन्थि के भेदन का कारण शुद्धात्मा की उपलब्धि है। इस प्रकार शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव ही सबका मूल सिद्ध हुआ; इसलिए सर्व प्रथम उसकी पहचान करनी चाहिए। ●●

*( लाठी शहर में पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर प्रवचनसार गाथा 194-195 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन )*

दीक्षाकल्याणक प्रवचन – 3

# ज्ञानसमुद्र में उछलती वैराग्य तरङ्गें

पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में आज शान्तिनाथ भगवान के दीक्षाकल्याणक का दिन है। उन्होंने पूर्व भवों में आत्मज्ञान प्राप्त करके, दर्शनमोह का अभाव करके ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की थी; उस भूमिका में राग से पुण्य बँधा और उसके फल में बाह्य में चक्रवर्ती इत्यादि पदों का संयोग हुआ। शान्तिनाथ भगवान इसी भव में चक्रवर्ती, कामदेव और तीर्थङ्कर – इन तीन पदवियों के धारक थे। उनके बहत्तर हजार नगर, चौरासी लाख हाथी, छियानवैं हजार रानियाँ और छियानवैं करोड़ सैनिक इत्यादि छह खण्ड की विभूति का संयोग था; तथापि उन्हें अन्तरस्वभाव में भान था कि ये कोई मेरा स्वरूप नहीं है, इनमें कहीं भी मेरी आत्मा का सुख नहीं है। उनको शुद्ध आत्मा की श्रद्धा के बल से संसार, शरीर और भोगों के प्रति उदासीनता तो पहले से ही थी।

मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा असंसारी, अशरीरी और अभोगी हूँ। भव, तन अथवा भोग मैं नहीं हूँ; मैं तो भवरहित मुक्तस्वरूपी हूँ; शरीररहित सिद्धसमान हूँ और भोगरहित असंयोगी हूँ। क्षणिक विकार अथवा शरीरादि संयोग मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसे

www.vitragvani.com



आत्मस्वभाव का सम्यक् दर्शन पाकर ही भगवान अवतरित हुए थे। वे जहाँ तक चक्रवर्ती पद में थे, वहाँ तक अस्थिरता का राग था परन्तु उनको उस राग की भावना नहीं थी; भावना तो आनन्दमूर्ति आत्मस्वभाव की ही थी।

वे शान्तिनाथ भगवान चक्रवर्ती पद में थे, तब एकबार दर्पण में अपना मुख देख रहे थे, उस समय दर्पण में अपने एकसाथ दो प्रतिबिम्ब दिखे, जिसे देखते ही वे आश्चर्यपूर्वक विचार में पड़ गये और उनको अपने पूर्व भवों का स्मरण हो गया क्योंकि दर्पण में उनके पूर्व भव का प्रतिबिम्ब दिखा था। उनको पूर्व भव का स्मरण होते ही संसार के प्रति अतिशय वैराग्य हो गया और वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे।

अहो! मेरा आत्मा शाश्वत चैतन्यघन, अशरीरी है, भोगरहित है, भवरहित है; आनन्दमूर्ति चैतन्य ही मेरा कायम शरीर है। ऐसे आत्मा का भान होने पर भी उसमें लीनता के बिना पूर्ण शान्ति नहीं है। भोग में मेरा सुख नहीं है और भोग का भाव मेरे स्वरूप में नहीं है; मैं इस राग को तोड़कर चैतन्य के आनन्द में लवलीन होऊँ – यही मेरा स्वरूप है। इस प्रकार भगवान, दीक्षा की भावना भाने लगे थे।

वैराग्य होने पर भगवान तुरन्त ही दीक्षा धारण करते हैं। वैराग्य होने के बाद भी भगवान लम्बे काल तक गृहवास में रहें अथवा दान देने के लिये एक वर्ष रुक जाएँ – ऐसा नहीं होता। जो वैराग्य होने पर भी भगवान का दीर्घ काल तक गृहवास में रहना मानते हैं, उन्होंने भगवान के उत्कृष्ट वैराग्य को नहीं पहिचाना

www.vitragvani.com



है। जैसे, शमशान में गया हुआ मुर्दा वापिस घर नहीं आता; उसी प्रकार वैराग्य प्राप्ति के बाद तीर्थङ्कर भगवान गृहवास में नहीं रुकते।

जब भगवान गृहस्थदशा में हजारों रानियों के सङ्ग में थे, तब भी उनमें कहीं सुखबुद्धि नहीं थी, अर्थात् अन्तर में तो उन सबसे उदास-उदास थे। रानियों को भी अन्दर में निर्णय हो गया था कि ये भोगी नहीं, किन्तु संसार में स्थित योगी हैं; कभी भी हमारे प्रति होनेवाले राग को तोड़कर चल निकलेंगे। इनकी रुचि का जोर स्वभाव में है, हमारे प्रति इनकी रुचि नहीं है और न इनको हमारे कारण राग होता है। ये निमित्त के कारण राग होना नहीं मानते हैं। पर्याय की कमजोरी के कारण राग होता है परन्तु ये भोगरहित अतीन्द्रियस्वभाव का भोग करने की भावना बारम्बार भाते हैं; अत: स्वभाव के पुरुषार्थ के ज़ोर से राग को तोड़कर, यह सब छोड़कर चले जाएँगे।'

भगवान भी अन्तर में भावना करते थे कि —

**रजकण या रिद्धि वैमानिक देव की....**
**सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जब....**

मैं असंयोगी चैतन्यमूर्ति हूँ, एक रजकण (परमाणु) से लेकर छह खण्ड की सिद्धि – यह सब अचेतन का स्वभाव है, मेरे चैतन्यस्वभाव में इनका त्रिकाल अभाव है – ऐसा भिन्नपने का भान तो था। जिसको भिन्नपने का भान नहीं हो, उसे तो पर से भिन्न चैतन्य की भावना भी कहाँ से होगी? भगवान को तो भिन्नता का भान होने पर भी राग के कारण परसन्मुखतारूप

www.vitragvani.com



झुकाव होता था, उस परसन्मुखतारूप झुकाव के अभाव के लिए और चैतन्यस्वभाव में लीन होने के लिए भगवान भावना करते हैं कि —

**अपूर्व अवसर ऐसा किसदिन आयेगा...**
**कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब...**
**सर्व सम्बन्ध का बंधन तीक्ष्ण छेदकर...**
**विचरुँगा कब महत्पुरुष के पन्थ जब...**

यह भावना कौन करते हैं ? – चक्रवर्ती राज्य में रहनेवाले शान्तिनाथ भगवान यह भावना करते हैं। वे संसार में रहने पर भी सम्यग्दृष्टि और मति-श्रुत-अवधि इन तीन ज्ञानों से सहित थे। दर्पण में दो प्रतिबिम्ब देखते ही उनको जातिस्मरणज्ञान हुआ। पूर्व भवों का स्मरण होने पर उनको वैराग्य जागृत हुआ और वे यह भावना चिन्तवन करने लगे —

अहो! मैं इस भव के पूर्व सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्रदेव था और उससे पूर्वभव में मैं मुनि था; उस समय मेरी अनुभवदशा अपूर्ण रहने से राग अवशेष रह गया; इस कारण यह अवतार हुआ है। अब मैं इस राग का अभाव करके, इसी भव से मुक्तिदशा को प्राप्त करनेवाला हूँ। मेरा अवतार, संसार के भोग के लिए नहीं है, मेरा अवतार तो आत्मा की मुक्ति के लिए है। मैं भगवान होने के लिए अवतरित हुआ हूँ... इस संसार शरीर और भोगों से उदासीन होकर असंसारी, अशरीरी और अभोगी – ऐसे अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में लीन होकर, वन जङ्गल में चैतन्य की आनन्द की मस्ती में झूलने के लिए मेरा अवतार है। इस प्रकार भगवान, संसार

www.vitragvani.com



से विरक्त होकर आत्मा के आनन्दसमुद्र में लीन हुए। अहो! धन्य यह अवतार!

वे संसारभावों से दूर हटने के लिए ऐसी भावना करते थे —

**सर्वभाव से उदासीन वृत्ति करि,**
**मात्र देह बस संयम हेतु होय जब...**

वैराग्य होने पर सभी तीर्थङ्कर भगवन्त ऐसा मुनिपना धारण करते हैं। वस्तु के सनातन स्वभाव में दिगम्बर जिनमुद्रा के बिना मुनिपना नहीं होता। मुनि के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं होता। देह की अशुचिता की शुद्धि के लिए कमण्डलु होता है, पानी पीने के लिए कमण्डलु नहीं होता परन्तु तीर्थङ्कर भगवान को देह तो स्वभाव से ही अशुचिता (मल-मूत्र) से रहित होने के कारण उनके तो कमण्डलु भी नहीं होता। मुनिदशा में आत्मा की परिणति ही इतनी अधिक वीतरागी हो गयी होती है कि वस्त्रादि बाह्य पदार्थों के ग्रहण की वृत्ति ही नहीं होती। इतनी वीतरागीपरिणति के बिना प्रमत्त-अप्रमत्तदशा में झूलती मुनिदशा नहीं होती; इसीलिए कहा है कि —

**सर्वभाव से उदासीनवृत्ति करि...**
**मात्र देह बस संयम हेतु होय जब...**

भगवान को गृहस्थपने में भी सम्यक् आत्मभान के बल से आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य सभी भावों से उदासीनता तो वर्तती ही थी और अब पूर्ण उदासीनता के लिए अर्थात् सर्वसङ्ग परित्यागी मुनिदशा के लिए वे भावना करते हैं।

भगवान को छह खण्ड का राज्य और छियानवैं हजार रानियों

www.vitragvani.com



का संयोग होने पर भी, पानी में रहे हुए कमल की तरह अन्दर चैतन्य की दृष्टि में कहीं उन्हें एकमेक नहीं होने दिया। रानियों का हृदय भी चमक उठता था कि ये किसी भी क्षण वैराग्य प्राप्त करके जङ्गल में चले जाएँगे। वन में विचरते एकलविहारी सिंह की तरह भगवान यह सब छोड़कर एकत्वभावना भाकर कभी भी वन में चले जाएँगे...। भगवान के वैराग्य की ऐसी छाप रानियों के हृदय में छप गई थी। ऐसे भगवान वैराग्य प्राप्त करके दीक्षा धारण करते हैं – यह आज का प्रसङ्ग है।

अहो! धन्य वह मुनिदशा! मुनि कहते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हम इन सांसारिक भोगों के लिए अवतरित नहीं हुए हैं। मुनिदशा में निर्ममत्वरूप से एक शरीर होता है क्योंकि शरीर को हठपूर्वक नहीं छोड़ा जा सकता। वस्तुत: तो संसार त्याग करते समय जो निश्चयप्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा की, उसमें आहार की वृत्ति का भी प्रत्याख्यान किया था। पञ्च महाव्रत की शुभवृत्ति भी नहीं करना और चैतन्य के अनुभव में ही लीन होना – ऐसी ही भावना थी परन्तु बाद में आहारादि की वृत्ति उत्पन्न होने पर मुनि विचार करते हैं कि अरे! मेरे निश्चयप्रत्याख्यान में भङ्ग पड़ा। मैंने अप्रमत्तरूप से आत्मानुभव में रहने की प्रतिज्ञा की थी और विकल्प का प्रत्याख्यान किया था; इस प्रकार पूर्णज्ञान की ही भावना थी परन्तु अप्रमत्तरूप से आत्मा में स्थिर नहीं रह सका और आहार की वृत्ति उत्पन्न हुई, इतने अंश मेरे निश्चयप्रत्याख्यान में भङ्ग पड़ा है; इसलिए मैं उसका प्रतिक्रमण करके निश्चयप्रत्याख्यान की संधि जोड़ लेता हूँ।

www.vitragvani.com



श्री जयधवलाकार कहते हैं कि सन्त तो स्वरूप स्थिरता के ही अभिलाषी थे, उन्होंने तो निश्चयप्रत्याख्यान की ही प्रतिज्ञा की थी; तथापि स्वरूप में पूर्णरूपेण स्थिर नहीं होने के कारण यह आहार आदि की वृत्ति उत्पन्न हुई है। सन्त इस वृत्ति को दोषरूप जानते हैं। पञ्च महाव्रत का शुभविकल्प भी पुण्यास्रव है, उसे करने की भी मुनियों की भावना नहीं है; तथापि वह वृत्ति उत्पन्न होती है तो उसे निश्चयप्रत्याख्यान में दोषरूप जानकर छोड़ते हैं, अर्थात् उसका प्रतिक्रमण करके पुनः स्वरूप में स्थिर होते हैं – ऐसी दशा सन्त-मुनियों की होती है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, चैतन्यस्वरूप में स्थिर न हों, तब भी उन्हें सर्व भावों से उदासीनता तो होती ही है। तत्पश्चात् स्वरूपस्थिरता का काल आने पर बाह्याभ्यन्तर समस्त परिग्रह छूट जाता है। देह का संयोग रहने पर भी उसके प्रति मूर्च्छा का परित्याग कर दिया है। चौदह ब्रह्माण्ड के मुनियों की दशा सदा ऐसी ही होती है; उनके वस्त्र अथवा पात्र के परिग्रह की वृत्ति कभी नहीं होती – ऐसा ही छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका का स्वभाव है। यही अनन्त सन्तों द्वारा स्वयं पालन किया हुआ और प्रतिपादित मुक्ति का राजमार्ग है। शान्तिनाथ भगवान आज ऐसे मुक्ति के राजमार्ग में गतिशील होने को तैयार हुए हैं।

जिस पथ पर अनन्त तीर्थङ्करों ने विचरण किया, उसका मैं अनुयायी होता हूँ। हमारे पुरुषार्थ में बीच में भङ्ग नहीं पड़ेगा, हम अप्रतिहत पुरुषार्थवाले हैं। भगवान शान्तिनाथ प्रभु कहते हैं कि हम अपने आत्मस्वभाव में जाते हैं.... निर्विकल्प स्वभाव के गीत गाने और उसे प्रगट करने के लिए हम तैयार हुए हैं... अब हमारे

www.vitragvani.com



स्वरूप स्थिरता का काल आया है। अन्तर के आनन्दकन्द स्वभाव की श्रद्धासहित, उसमें रमणता करने के लिए जो जागृत हुआ, उस भाव में अब भङ्ग पड़नेवाला नहीं है... हमारे जागृतभाव को हम वापिस नहीं पड़ने देंगे... अखण्डानन्द स्वभाव की भावना के अतिरिक्त पुण्य-पाप की भावनाओं का भाव अब हमको कभी आनेवाला नहीं है। – दीक्षा के लिए तैयार हुए शान्तिनाथ भगवान ऐसी भावना करते थे।

अनादि प्रवाह में हमारे जैसे अनन्त तीर्थङ्कर हुए, मैं उनके कुल की जाति का हूँ। क्षत्रिय आदि कुल वास्तव में आत्मा का कुल नहीं है। तीर्थङ्कर, आत्मा के चैतन्यकुल में अवतरित हुए, वही उनका सच्चा कुल है। अहो! मैं एक चिदानन्दी भगवान के सिवाय अन्य किसी भाव को मनमन्दिर में नहीं लाता; एक चैतन्यदेव को ही ध्येयरूप बनाकर उसके ध्यान की लीनता से आनन्दकन्द स्वभाव की रमणता में मैं कब पूर्ण होऊँ! अकेले चैतन्यस्वभाव का ही आश्रय करके केवलज्ञान प्रगट करना हमारे – तीर्थङ्कर के कुल की रीत है। तीर्थङ्कर उसी भव से केवलज्ञान लेकर छुटकारा करते हैं।

अनन्त तीर्थङ्कर, आत्मा का चारित्र पूर्ण करके उसी भव में केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। अनन्त तीर्थङ्करों ने जिस पन्थ में विचरण किया, हम भी उसी पन्थ में विचरण करनेवाले हैं। मैं चिदानन्द नित्य हूँ और यह समस्त संसार अनित्य है। मेरा आनन्दकन्द चिदानन्द स्वभाव ही मुझे शरण है; जगत में अन्य कोई मुझे शरण नहीं है; इस प्रकार की वैराग्य भावना भकर भगवान ने दीक्षा अङ्गीकार की थी।

www.vitragvani.com



अहो! जब तीर्थङ्कर भगवान दीक्षा लेते होंगे, वह काल कैसा होगा और वह प्रसङ्ग कैसा होगा!! जीव को आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना भी अनन्त काल में दुर्लभ है।

अरे जीव! तूने इस संसार में अज्ञानपने परिभ्रमण करते हुए पूर्व भव की माता को स्त्रीरूप में अनन्त बार भोगा है। तूने स्वर्ग-नरक और चींटी, कुत्ता आदि के अनन्त भव किये हैं, उनमें जो एक भव में तेरी माता थी, वही दूसरे भव में तेरी स्त्री हुई; एक भव में जो तेरी स्त्री थी, वही दूसरे भव में तेरी माता हुई; एक भव में जो तेरा बन्धु था, वही दूसरे भव में तेरा शत्रु हुआ... अहो! धिक्कार है ऐसे संसार को... ऐसा संसार अब हमें स्वप्न में भी नहीं चाहिए। इस संसारभाव को धिक्कार हो...! जिसमें जिसके गर्भ में सवा नौ माह रहकर मातारूप में स्वीकार किया हो, उसे ही दूसरे भव में स्त्रीरूप में भोगना होता है... अरे! यह संसार.... !! अनन्त काल आत्मभान के बिना इस संसार में परिभ्रमण किया... अब हम फिर से इस संसार में अवतरित नहीं होंगे। हम आत्मा के भानसहित तो अवतरित हुए ही हैं और अब इसी भव में मोक्ष पानेवाले हैं... अब फिर से इस संसार में नयी देह धारण करनेवाले नहीं हैं...।

देखो तो सही, यह धर्मात्मा की निःशङ्कता! भगवान शान्तिनाथ प्रभु कहते हैं कि आज मैं इस संसार के राग को तोड़कर अपना चारित्र धर्म धारण करूँगा... और इसी भव में परमात्मा होऊँगा... अब मैं दूसरा भव धारण करनेवाला नहीं हूँ। जीव को अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए अब तक अप्राप्त एकमात्र मुक्तिदशा

www.vitragvani.com



ही है, उसे अब मैं प्राप्त करुँगा।

देखो! यह अन्तर में चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता के ज़ोरपूर्वक की भावना है। तीर्थङ्कर भगवान ने कैसी भावना भायी थी, उस भावना का स्वरूप समझना भी, सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य को मुश्किल है; अत: उसके सच्ची भावना तो हो ही कैसे सकती है? चैतन्यस्वभाव के सन्मुख झुकाव के जोर में शान्तिनाथ भगवान भव, तन और भोग से उदास-उदास हो गये हैं; श्मशान की गोद में पड़े हुए मृतक की तरह उदास हैं, अर्थात् जैसे श्मशान की गोद (अर्थी) में पड़े हुए मुर्दे का कोई हार इत्यादि से शृङ्गार करे तो मुर्दा प्रसन्न नहीं होता क्योंकि मोह करनेवाला (जीव) अन्दर से चला गया है; इसी प्रकार भगवान का आत्मा सम्पूर्ण संसार से उदासीन हो गया है, क्योंकि अन्दर में मोह की मृत्यु हो गयी है। हम को चैतन्य के आनन्द के समक्ष ये पुण्य-पाप अथवा शरीर, भोग इत्यादि अच्छे नहीं लगते; जागृत चैतन्य की सत्ता के समक्ष तो ये सब मृतक समान लगते हैं – ऐसे भानसहित भगवान, चारित्रदशा अङ्गीकार करते हैं।

यहाँ भगवान शान्तिनाथ की दीक्षा का प्रसङ्ग है और अभी व्याख्यान में प्रवचनसार की गाथा 195 वीं चलती है। इसमें भी 'श्रामण्य में परिणमने की' ही बात आई है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, महाविदेहक्षेत्र में जाकर श्री सीमन्धर परमात्मा के पास से जो ज्ञान का खजाना लाये, उसे अपनी आत्मा में संग्रह करके रखा और जगत के महाभाग्य से वाणी द्वारा यह रचना हो गयी; उसमें वे कहते हैं कि —

www.vitragvani.com



**'हत मोह ग्रन्थि राग-द्वेष विनाश कर श्रामण्य में।**
**पाता वो अक्षय सौख्य कि जो साम्यमय सुख-दुःख में॥'**

देखो, चारित्र के परिणमन की दशा! यहाँ शान्तिनाथ भगवान की चारित्रदशा का प्रसङ्ग है और वह चारित्र शान्ति का कारण है – ऐसा यहाँ वर्णन है...! तीर्थङ्करों के क्षपकश्रेणी ही होती है, उपशमश्रेणी नहीं होती और इस गाथा में भी रागादिक के क्षय की बात करके क्षायिकभाव ही लिया है।

मैं ज्ञानानन्द स्वभाव हूँ – ऐसे आत्मभानसहित तो भगवान अवतरित ही हुए थे और अब उस स्वभाव में लीन होकर रागादिक का क्षय करते हैं। भगवान को जैसा आत्मभान था, उस आत्मभानसहित ही चारित्रदशा होती है; इसके अतिरिक्त चारित्रदशा, अर्थात् मुनिपद नहीं होता। मुनि तो उसे कहते हैं कि जिसके चरण में गणधर के नमस्कार पहुँचते हैं।

अहो! गणधर के वन्दन योग्य वह पद कैसा होगा? गणधरदेव जब नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब कहते हैं कि –

**णमो लोए सव्व अरहंताणं।**
**णमो लोए सव्व सिद्धाणं।**
**णमो लोए सव्व आइरियाणं।**
**णमो लोए सव्व उव्वज्झायाणं।**
**णमो लोए सव्व साहूणं।**

(अन्तिम पद में समागत '**लोए सव्व**' शब्द पाँचों पदों में लागू होता है।)

गणधरदेव भी विकल्प की भूमिका में, जिस साधुपद को

www.vitragvani.com



नमस्कार करते हैं, उस साधुपद की महिमा कितनी! भगवान ने आज अपने आत्मा में ऐसा साधुपद प्रगट किया है। उन्हें ज्ञानस्वभाव का भान तो पहले से था ही, और अब ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता द्वारा आत्मा में चारित्र की दशा अङ्गीकृत की है। भगवान, चारित्रदशा प्रगट करके आत्मा में लीन हुए। अभी उनको केवलज्ञान नहीं था, तब भी महाविदेहक्षेत्र के गणधरों का नमस्कार 'णमो लोए सव्व साहूणं' – इस पद द्वारा आ जाता था।

जैसे सर्प, कैंचुली उतारकर चला जाता है; उसी प्रकार भगवान ने छियानवैं हजार रानियों और छह खण्ड के राज्यवैभव का परित्याग कर दिया था। जैसे, मल विसर्जन के बाद कोई उसकी तरफ नहीं देखता है; उसी प्रकार भगवान ने राज्य और रानियों का राग छोड़ दिया, फिर उनके सन्मुख नहीं देखा। हजारों रानियों बिलखती रही कि अरे रे! हमें भोग में साथ देनेवाला अकेला वन में चला जाता है... तब इन्द्राणी कहती है कि अरे रानियों! शान्त होओ... इन्होंने तो अब राग की वृत्तियों का क्षय किया है... अब इन्हें तुम्हारे प्रति राग की वृत्ति नहीं है; ये तो 'समसुख दुःख' हुए हैं, न इन्हें किसी के प्रति राग है, न द्वेष....! भगवान, मिथ्यात्व का तो नाश करके ही अवतरित हुए थे और अब स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष का क्षय करके वे श्रामण्य में परिणमित हुए हैं। ऐसे वीतरागी श्रामण्य द्वारा अब तो भगवान, केवलज्ञान प्रगट करके 'अक्षय सौख्य' को प्राप्त करेंगे।

देखो, यह चारित्रदशा की महिमा! इसका नाम मुनिदशा है। निन्दा या प्रशंसा कुछ भी हो, उसमें राग-द्वेष की वृत्ति ही उत्पन्न न हो – ऐसी वीतरागी मुनि की दशा होती है। ●●

ज्ञानकल्याणक प्रवचन - 3

# दिव्यध्वनि की घोषणा

श्री शान्तिनाथ भगवान का पञ्च कल्याणक चल रहा है। भगवान, वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित हुए और आत्मध्यान में लीन होने पर उनको केवलज्ञान हुआ... इन्द्रों ने केवलज्ञान कल्याणक मनाया, समवसरण की रचना की और उपदेश के लिये भगवान की स्तुति की... दिव्यध्वनि में भगवान का उपदेश होने लगा। इन्द्र ने स्तुति की, इस कारण भगवान का उपदेश हुआ – ऐसा नहीं है परन्तु इन्द्र, स्तुति करता है – ऐसी विनय की शैली है।

तीर्थङ्कर भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् उपदेश नहीं हो – ऐसा नहीं होता। भगवान की दिव्यध्वनि एकाक्षरी होती है। रागी और अल्पज्ञ जीव की वाणी भेदवाली होती है। वीतरागता और केवलज्ञान होने के पश्चात् वाणी में भेद नहीं होता। केवली भगवान की वाणी में सम्पूर्ण रहस्य एक साथ आता है और सुननेवाले अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं। श्री गणधरदेव, भगवान की वाणी को झेलनेवाले उत्कृष्टरूप पात्र हैं। वे भगवान की वाणी के समय नियम से उपस्थित होते हैं। भगवान की वाणी खिरने के

www.vitragvani.com



समय उत्कृष्ट झेलनेवाले गणधरदेव न हो – ऐसा नहीं होता, अर्थात् उपादान-निमित्त की सन्धि नहीं टूटती।

प्रथम बार तीर्थङ्कर भगवान की वाणी खिरती है, उसे सुनकर गणधरदेव अन्तर्मुहूर्त में बारह अङ्ग की रचना करते हैं – ऐसा उत्कृष्ट क्षयोपशम उनको होता है। वे भगवान की वाणी में से तो बहुत झेलते हैं परन्तु जितना उनने झेला, उसका अमुक भाग ही बारह अङ्ग की रचना में आता है। वे भगवान की सभा के सर्वोत्कृष्ट श्रोता हैं।

भगवान ने केवलज्ञान में सम्पूर्ण विश्व प्रत्यक्ष देखा है। विश्व में छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं – एक जीव और पाँच प्रकार के अजीव। जीव और अजीवतत्व त्रिकाली हैं और उनके परस्पर सम्बन्ध से अन्य सात तत्व होते हैं, वे क्षणिक हैं। इस प्रकार कुल नौ तत्व हैं। जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

जीव अपना हित करना चाहता है। हित किसका करना है ? – कि अपने आत्मा का। जगत में जो वस्तु सत् होती है, उसका हित होता है, अर्थात् जिसका हित करना है – ऐसा अपना आत्मा है; इस प्रकार अपने आत्मा के अस्तित्व का निर्णय करना चाहिए।

जिन्होंने अपना हित कर लिया है और जिन्होंने अपना हित नहीं किया है – ऐसे अपने अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी इस जगत में है – ऐसा भी जानना चाहिए।

स्वयं अपना हित करना चाहता है, इसका अर्थ यह भी हुआ कि अभी तक अहित किया है। अपने स्वभाव के लक्ष्य से अहित

www.vitragvani.com



नहीं होता परन्तु स्वभाव से विरुद्ध अन्य वस्तु के लक्ष्य से अहित हुआ है, अर्थात् जीव के अतिरिक्त अन्य अजीव वस्तुएँ भी हैं।

जिस वस्तु में जानने की शक्ति है, वह जीव है; जिस वस्तु में जानने की शक्ति नहीं है, वह अजीव है। जीव की पर्याय में विकार होता है, उसमें अजीव कर्म निमित्त है।

जीव की पर्याय में मलिनता के चार प्रकार पड़ते हैं – पुण्य –पाप, आस्रव और बन्ध। उनमें निमित्तरूप कर्म में भी ये चार प्रकार हैं। अपने स्वभाव का भान करके उस तरफ परिणमने से शुद्धता होती है, उस शुद्धता के तीन प्रकार हैं – संवर, निर्जरा और मोक्ष। उनमें कर्म का अभाव निमित्तरूप है।

इस प्रकार भगवान ने जीवादि नौ तत्त्व कहे हैं। इनमें से एक भी तत्त्व कम नहीं हो सकता और इन नव तत्त्वों के अतिरिक्त दूसरा कोई दसवाँ तत्त्व जगत में नहीं है। यदि इन तत्त्वों को नहीं माना जाए तो कुछ भी वस्तुस्थिति सिद्ध नहीं होती।

हे भाई! 'तू जीव है' – ऐसा कहते ही 'तेरे अतिरिक्त अन्य अजीव पदार्थ हैं, वे तू नहीं है' – यह इसमें आ ही जाता है। अर्थात् 'जीव है' – ऐसा कहते ही अनेकान्त के बल से 'अजीव' भी सिद्ध हो जाते हैं। 'अनेकान्त' भगवान के शासन का अमोघ मन्त्र है। इस अनेकान्त के द्वारा सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव पहिचान जाता है। बहुत से लोग अनेकान्त का वास्तविक स्वरूप समझे बिना अनेकान्त के नाम पर गड़बड़ी करते हैं। अनेकान्त तो प्रत्येक तत्व की स्वतन्त्रता बताता है और पर से पृथकता बतलाकर स्वभावसन्मुख ले जाता है।

www.vitragvani.com



जीव और अजीव – ये मूल द्रव्य अनादि-अनन्त निज-निजस्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं। वे सर्वथा नित्य नहीं, किन्तु नित्यानित्यस्वरूप है। वस्तुरूप से कायम रहकर अपनी अवस्था बदलते हैं, अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। उसमें जब जीव, पर के आश्रय से उपजता है, तब उसकी पर्याय में पुण्य-पाप और आस्रव-बन्ध की उत्पत्ति होती है और जब स्वभाव का आश्रय करके उपजता है, तब संवर, निर्जरा और मोक्ष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जगत में जीवादि नौ तत्त्व हैं।

भगवान ने अपने पूर्णज्ञान में इन नौ तत्त्वों को देखा है, दिव्यध्वनि में ये नौ तत्त्व प्रतिपादित किये हैं और सच्चे श्रोता इन नौ तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर स्व स्वभावोन्मुख हुए हैं। स्वभावसन्मुख होने से उनकी पर्याय में से पुण्य-पाप और आस्रव-बन्धरूप विकारी तत्त्वों का अभाव होने लगा और संवर, निर्जरा तथा मोक्षरूप निर्मल तत्त्वों की उत्पत्ति होने लगी – इसका नाम धर्म है और यही हित का उपाय है।

आत्मा, आनन्दस्वभाव से भरपूर है परन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है, इस कारण उसकी अवस्था में मलिनता है और उस मलिनता में परवस्तु निमित्त है। अवस्था में होनेवाली मलिनता और परवस्तु को नहीं माननेवाला अभिप्राय मिथ्या है। जो यह मानता है कि इस जगत में एक अद्वैत आत्मा ही है तो उसे पर से और विकार से भेदज्ञान करके अन्तरस्वभाव सन्मुख होने का अवसर नहीं रहता। पर को और विकार को जाननेवाला तो पर से भिन्नता का भान करके और क्षणिक विकार का आश्रय छोड़कर,

www.vitragvani.com



अभेदस्वभाव के आश्रय से भेदज्ञान (आत्मज्ञान) और सम्यक्चारित्र प्रगट करके मुक्ति प्राप्त कर लेता है। 'आत्मा का हित करना है' – इसमें सब बात आ जाती है। यह सब स्वीकार किये बिना आत्मा का हित करने की बात नहीं रहती।

जगत में जो स्वयंसिद्ध छह द्रव्य और नौ तत्त्व हैं, वे ही भगवान ने ज्ञान में जानकर कहे हैं, परन्तु भगवान ने कोई नये तत्त्व बनाये नहीं हैं तथा भगवान ने कहे हैं; इसलिए वे तत्त्व हैं – ऐसा भी नहीं है और वे तत्त्व हैं, इस कारण भगवान को ज्ञान हुआ है – ऐसा भी नहीं है। जगत के तत्व स्वतन्त्र हैं और भगवान का ज्ञान भी स्वतन्त्र है। मात्र ज्ञेय-ज्ञायक स्वभाव ऐसा है कि जैसा ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव होता है, वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होता है। एक तत्त्व, दूसरे तत्त्व में कुछ नहीं करता। भगवान आत्मा चिदानन्द शुद्धस्वभाव है, वह पर में कुछ नहीं करता।

– यदि **जीव** नहीं हो तो कल्याण किसका करना?

– यदि **अजीव** नहीं हो तो जीव की पर्याय में भूल कैसे हो?

– यदि जीव की पर्याय में पराश्रय से होनेवाला **विकार** नहीं होवे तो कल्याण करना कैसे रहे?

– यदि स्वाश्रय से वह विकारदशा मिटकर **अविकारी दशा** न होती हो तो कल्याण कहाँ से हो?

इसलिए – जीव है, अजीव है, अजीव के आश्रय से जीव की पर्याय में विकार है, और अपने स्वभाव के आश्रय से उस विकारदशा का अभाव होकर निर्मलदशा होती है। इस प्रकार जीव,

www.vitragvani.com



अजीव, विकार और स्वभाव – इन चारों पहलुओं को भलीभाँति जानकर स्वभाव का आश्रय करने पर अधर्म का अभाव होकर धर्म होता है – इसमें नौ तत्त्व समाहित हो जाते हैं।

इस प्रकार भगवान को केवलज्ञान होने पर उनकी वाणी में छहों द्रव्यों की स्वतन्त्रता का उपदेश आया है। उन्होंने कहा कि प्रत्येक आत्मा अपनी चैतन्यशक्ति से प्रभु है। आत्मा और जड़ दोनों में अपनी-अपनी प्रभुता है। भले ही जड़ पदार्थों में चेतनशक्ति नहीं है, परन्तु वह जड़ वस्तु अपनी-अपनी स्वतन्त्र शक्ति सम्पन्न है। शरीरादि जड़ का पलटना स्वतन्त्ररूप से उनकी अपनी शक्ति से होता है, आत्मा अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें परिणमित नहीं कर सकता।

आत्मा में पर का कुछ भी करने की शक्ति नहीं है परन्तु अपनी अपरिमित ज्ञान और सुखशक्ति उसमें है। आत्मा किसी भी पर के आश्रय बिना स्वाश्रय से अपना कल्याण करने की सामर्थ्यवाला है। वह स्वयं ही अपनी परमात्मशक्ति को भूलकर पराधीन भी स्वयं अपने से ही हुआ है, किसी अन्य ने उसे पराधीन नहीं किया है। दुंदुभी के दिव्यनाद के बीच ऐसी स्वतन्त्रता का ढ़िढौरा भगवान के उपदेश में आया है।

भगवान के समवसरण में दुंदुभीनाद होता है, वह जगत से यह कहता है कि अरे जीवों! यदि तुम्हें अपने आत्मा का हित करना हो तो यह भगवान की वाणी सुनो! भगवान, मोक्षमार्ग के नेता हैं; अतः यदि तुम्हें मोक्षमार्ग प्रगट करना हो तो प्रभु के उपदेश को सुनो। कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहते हैं कि —

www.vitragvani.com



**जीवों! प्रमाद तज दो, भज ईश को लो।**
**है मार्ग-दर्शक, यहाँ बस पास आजो॥**
**ये बात तीन जग को बतला रहा है।**
**आकाश बीच सुर-दुन्दुभि-नाद तेरा॥**

हे भगवान! आपके समवसरण में देव दुंदुभी, आकाश में गूँज रही हैं। मानों वह जगत के जीवों को ऐसे आमन्त्रित कर रही है कि हे भव्य जीवों! आत्मा का कल्याण करने के लिए अपने समस्त प्रमादों को छोड़कर यहाँ आओ और मोक्ष के नेता ऐसे इन भगवान की सेवा करो – भगवान का उपदेश सुनो! और भगवान की दिव्यध्वनि यह पुकार करती है कि 'हे जीवों! तुम्हें अपना हित करना हो तो वस्तु की स्वतन्त्रता जानकर स्वभाव का आश्रय करो...।' अहो! जहाँ तीर्थङ्कर भगवान विचरण करते हों और समवसरण हो, वहाँ प्रचुर धर्म वर्तता है।

वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर परमात्मा तीर्थङ्कररूप में विराजमान हैं और वहाँ प्रचुर धर्मप्रवाह चल रहा है। यहाँ से भगवान श्री कुन्दकुन्दकुन्दाचार्यदेव, सीमन्धर भगवान के पास गये थे और वहाँ आठ दिन रहकर साक्षात भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण किया था। यह प्रसङ्ग लगभग विक्रम संवत् 49 में बना था। वे वहाँ से दिव्यध्वनि झेलकर वापिस भरतक्षेत्र में पधारे और समयसारादि परमागमों की रचना की। उसमें वे कहते हैं कि 'भगवान दिव्यध्वनि में ऐसा कहते हैं कि हे जीवों! हम सिद्ध हैं, तुम भी सिद्ध हो; हम परमात्मा हैं, तुम भी परमात्मा हो। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण परमेश्वर है। तुम अपनी प्रभुता

www.vitragvani.com



को पहिचानो! जितने जीव, प्रभु हुए हैं, वे सब अपने प्रभुत्व को पहिचानकर उसके आधार से ही प्रभु हुए हैं। प्रभुता कहीं बाहर से नहीं आती, अपितु स्वभाव में शक्ति है, उसमें से ही वह प्रगट होती है; इसलिए पहले स्वभाव शक्ति को पहचानो।'

आचार्यदेव ने समयसार की पहली गाथा में ही सिद्धपने का मुहूर्त किया है कि '**वंदितु सव्व सिद्धे...**' सिद्ध भगवान को वन्दन करता हूँ, अर्थात् आत्मा को ही सिद्धपने स्थापित करता हूँ। अहो जीवों! मेरा और तुम्हारा आत्मा, सिद्ध समान है। इस पञ्चम काल में साक्षात सिद्धदशा नहीं है परन्तु स्वभाव से तो मैं सिद्ध और तू भी सिद्ध; इस प्रकार स्वभाव में सिद्धपना स्थापित करके सिद्धदशा का मुहूर्त करते हैं। यह बात सुनकर जिसने अपने आत्मा में सिद्धपना स्थापित किया, वह अल्प काल में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि –

**चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्ध समान सदा पद मैरो;**
**मोहमहातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो।**
**ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहु गुण नाटक आगम केरो;**
**जासु प्रसाद सधै शिवमारग, बेगि मिटै भववास बसेरो॥**

अपना परमार्थ स्वभाव कैसा है – यह बतलाकर, तत्पश्चात् पर्याय की बात की है। मेरा स्वरूप तो सदा चैतन्यरूप, उपमारहित और अमूर्तिक सिद्धसमान है परन्तु पर्याय में मोह के महा अन्धकार का सम्बन्ध होने से अज्ञानी बन रहा था... किन्तु अब तो मेरे अन्तर में ज्ञानज्योति प्रगट हुई है; इसलिए मैं इस समयसार के गुण कहता

www.vitragvani.com



हूँ कि जिसके प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है और भव का वास, अर्थात् जन्म-मरण शीघ्र छूट जाते हैं।

चिदानन्दी भगवान आत्मा को उपमायोग्य कोई पदार्थ जगत में है ही नहीं। अपना पद सिद्धसमान है। – ऐसे आत्मा की श्रद्धा के बिना जन्म-मरण का अभाव नहीं होता।

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सिद्ध, तू सिद्ध। एक बार हम कहते हैं, वैसे अपने आत्मा का विश्वास करके हाँ करना। आत्मा का स्वभाव सदा सिद्ध समान होने पर भी, उसके अविश्वास के कारण तेरी वह शक्ति रुक गयी है। विश्वास के न होने कारण ही यह संसार खड़ा है।

कोई कहता है कि 'आत्मा सिद्धसमान हो तो उसे यह क्या हुआ है?'

उससे कहते हैं कि स्वभाव सामर्थ्य से तो वह सदा सिद्धसमान है ही, परन्तु पर्याय में उस स्वभाव की असावधानी से सदा ही अज्ञानी हुआ है; वह क्षणिक अज्ञानभाव, त्रिकाली स्वरूप में नहीं है.... अब इस शुद्ध आत्मस्वभाव की महिमा का श्रवण करते -करते, विकल्प पर वजन मत देना; अपितु मैं सिद्ध हूँ – ऐसा लक्ष्य रखकर स्वभावसन्मुखता का जोर देना। पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से श्रवण-मनन करते-करते अवस्था में से दोष और अपूर्णता का अभाव होकर पूर्णदशा हो जाएगी।

भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया था कि हे जीवों! तुम्हारा आत्मा पर से भिन्न ज्ञानस्वरूप है, तुम परसङ्ग छोड़कर स्वभाव का परिचय करो – ऐसा करने से जो शक्तिरूप परमात्मपना

www.vitragvani.com



है, वह पर्याय में व्यक्त हो जाएगा – ऐसा मुक्ति का उपाय भगवान ने कहा है।

आत्मा के स्वभाव की यह बात किसे बैठती-जँचती है ? जिसे पात्रतापूर्वक अन्तर में ऐसा लगे कि अहा... ! भगवान ने मेरे स्वभाव की बात की है.... भगवान ने तो मेरे आत्मा की अनन्त महिमा समझाई है। भगवान तो कहते हैं कि मेरे और तेरे में अन्तर नहीं है। अहो, ऐसा मेरा स्वभाव! इस प्रकार जो महिमा लाकर अपने स्वभावसन्मुख होता है, उसे ही अन्तर में यह बात जँचती है और उसका अपूर्व कल्याण हो जाता है। पर्यायबुद्धिवाले को यह बात अन्तर में नहीं जँचती और यह बात जँचे बिना कल्याण नहीं होता।

क्षणिक पर्याय में विकार है, उतना ही जीव अनादि से अपने को भान रहा है, इसी कारण परिभ्रमण कर रहा है। यहाँ उस पर्यायबुद्धि को छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराना चाहते हैं। पर्याय में एक समय का संसार है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। एक समय के विकार में आत्मा का चैतन्यपद नहीं है; उस विकार में आत्मा को खोजनेवाले को आत्मा अनुभव में नहीं आयेगा; अपितु विकार की उत्पत्ति होगी। यदि स्वभावसन्मुख होकर अन्तर में त्रिकाली चैतन्यपद को खोजे तो उसके आश्रय से नित्य रहनेवाली परमात्मदशा हुए बिना नहीं रहे।

आचार्य भगवान, मोहक्षय का उपाय दर्शाते हुए प्रवचनसार में कहते हैं कि –

**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।**
**सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ 80॥**

www.vitragvani.com



जिसने अरिहन्त भगवान के आत्मा को द्रव्य, गुण, पर्याय से जाना और उसी जाति का मैं हूँ – ऐसा निर्णय किया, वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मोह का नाश करके फिर शुद्धात्मा के आश्रय से ही राग-द्वेष का क्षय करते हुए जीव, शुद्धात्मा को प्राप्त करता है, अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करता है – यह मुक्ति का उपाय है। मोहक्षय का यह एक ही उपाय है – इस बात को दृढ़ करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि –

**सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।**
**किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥ 82॥**

ऊपर कहे अनुसार ही मोहक्षय का उपाय करके समस्त अरिहन्त भगवन्तों ने मोह का क्षय किया है और परमात्मपद को प्राप्त किया है। तत्पश्चात उन अरिहन्त भगवन्तों ने जगत को यही उपदेश दिया है। उसमें कहा है कि हमने इसी विधि से मोह का अभाव करके परमात्मदशा प्राप्त की है। जैसा हमने किया, वैसा यदि तू भी करे तो तू भी परमात्मा होने योग्य है। तू अरिहन्त के समान अपने आत्मा को जानकर उसका आश्रय कर तो तेरे मोह का नाश होकर परमात्मदशा होगी।

यहाँ 'परमात्मदशा होगी ही' – ऐसी बात है; 'नहीं होगी' – ऐसी बात यहाँ नहीं है। जगत में अभव्य जीव भले ही हों, परन्तु भगवान के समवसरण में अभव्य जीव नहीं होते। जो जीव, भगवान का उपदेश सुनने के लिए आया है और भगवान के द्वारा कथित आत्मस्वभाव की बात जिसके आत्मा में बैठी है, वह जीव अल्प

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



काल में मुक्ति पाने योग्य भव्य ही होता है। अभी यहाँ भी भगवान के केवलज्ञान कल्याणक के रूप में, भगवान की दिव्यध्वनि के रूप में यह उपदेश चलता है।

दिव्यध्वनि में भगवान का पुकार है कि मैंने जैसा स्वभावाश्रित पुरुषार्थ किया, वैसा पुरुषार्थ तुम करो तो तुम्हें भी परमात्मदशारूपी कार्य हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मस्वभाव का जितना पुरुषार्थ करे, उतना स्वभाव का कार्य प्रगट न हो – ऐसा नहीं होता। बहुत पुरुषार्थ करे और कार्य अल्प प्रगट हो – ऐसा नहीं होता तथा अपने पुरुषार्थ के बिना किसी अन्य के आधार से परमात्मदशा प्रगट हो जाए – ऐसा भी नहीं है।

एक ही नियम है कि जितना स्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ करे, उतनी पवित्रदशा उसी क्षण प्रगट होती है। संसार के बाह्य संयोग की बात अलग है परन्तु आत्मा में तो स्वभाव के आश्रय से अवश्य मुक्ति होती है और पुरुषार्थ के बिना मुक्ति नहीं होती।

कोई कहे कि जब काललब्धि होगी, तब मुक्ति होगी, उसमें पुरुषार्थ व्यर्थ है – तो ऐसा कहनेवाला मिथ्यादृष्टि है। पुरुषार्थ के बिना काललब्धि का निर्णय किसने किया? जहाँ पुरुषार्थ है, वहाँ काललब्धि होती ही है। आत्मा का पुरुषार्थ दिखे और काललब्धि की शङ्का रहे – ऐसा कभी नहीं होता। इस प्रकार भगवान ने पुरुषार्थ का उपदेश किया है।

भगवान की दिव्यध्वनि में वस्तु की त्रिकाली शक्ति और उसकी प्रति समय की पर्यायों की स्वतन्त्रता का ढिंढौरा पीटा है। त्रिकाली द्रव्य स्वतन्त्र है और उसकी प्रति समय की अवस्था भी स्वतन्त्र है।

www.vitragvani.com



भगवान की वाणी में तो ऐसा आया था कि आत्मा के स्वभाव सन्मुखतारूप पुरुषार्थ की दशा ही आत्मा की काललब्धि है। त्रिकाली सत् और समय-समय का सत् स्वतन्त्र है; समस्त पदार्थ और उनकी वर्तमान पर्याय स्वतन्त्र है। कर्म, आत्मा को विकार नहीं कराता; आत्मा कर्म के कारण परिभ्रमण नहीं करता। जीव की पर्याय का कर्ता अन्य को कहो तो जीव की स्वतन्त्रता ही कहाँ रही? इस जीव का कर्ता दूसरा है – ऐसा कहने (मानने) पर जीव वस्तु ही स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होती।

जिसका कोई कर्ता होता है, वह वस्तु कृत्रिम सिद्ध होती है। त्रिकाली वस्तु का कोई कर्ता नहीं है। यदि त्रिकाली वस्तु स्वयंसिद्ध सत् है तो उस वस्तु का वर्तमान भी स्वयंसिद्ध सत् है। त्रिकाली वस्तु का कोई कर्ता नहीं है तो उसके वर्तमान का कर्ता भी कौन होगा? कोई कर्ता नहीं है।

त्रिकाली सत् की स्वतन्त्रता में उसके एक-एक समय के सत् की स्वतन्त्रता भी समाहित ही है। एक भी समय के सत् को पराधीन मानने पर त्रिकाली सत् की स्वाधीनता सिद्ध नहीं होती क्योंकि एक समय की पर्याय पराधीन, इसी प्रकार दूसरे... तीसरे... समय की पर्यायें भी पराधीन – इस प्रकार तीनों काल वर्तता द्रव्य ही पराधीन सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तुस्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा। जैसे, जगत के अज्ञानी जीव ईश्वर को जगत का कर्ता मानते हैं; उसी प्रकार जो जैन सम्प्रदाय में रहकर भी ऐसा मानता है कि कर्म, जीव को परिभ्रमण कराते हैं अथवा आत्मा, पर का कुछ करता है – तो वह भी अन्यमती की तरह ही मिथ्यादृष्टि है।

www.vitragvani.com



जीव एक समय का विकार अवस्था में स्वतन्त्ररूप से स्वयं करता है – ऐसा नहीं जानकर, उस विकार को कर्मकृत माननेवाला, ईश्वर को जगत का कर्ता माननेवाले जैसा ही है, उसे वस्तु की स्वाधीनता की प्रतीति नहीं है।

वास्तव में परमार्थ स्वभाव से मैं एक समय के विकार का कर्ता और वह मेरा कर्म – इस प्रकार निश्चय से विकार के साथ कर्ता-कर्मपना माननेवाले को भी भगवान, मिथ्यादृष्टि कहते हैं क्योंकि उसे विकार से भिन्न ज्ञायकस्वभाव का भान नहीं है। 'आत्मा अपने स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है' – यह सत्य है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पर, विकार कराता है – ऐसा माननेवाला तो महान भूल करता है, उसे तो व्यवहार की, अर्थात् वर्तमान पर्याय की स्वतन्त्रता का भी पता नहीं है।

मेरे द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों से मैं स्वतन्त्र हूँ। यह विकार मेरी ही वर्तमान पर्याय के अपराध से होता है परन्तु मेरे द्रव्य-गुण स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिए मैं स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं हूँ और विकार मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार समझकर विकाररहित स्वभाव का अनुभव करनेवाला जीव, धर्मी है।

जो विकाररूप अंश को भी स्वतन्त्र स्वीकार नहीं करता तो वह त्रिकाल अंशी को स्वतन्त्र स्वीकारने का जोर कहाँ से लायेगा? विकार, पर कराता है, अथवा विकार मेरा कर्तव्य है – ऐसा माननेवाला तो विकार को ही अपना कर्तव्य मानकर अटकता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

जिसने अपने परमार्थ ज्ञानस्वभाव को दृष्टि में लिया है, वह

www.vitragvani.com



धर्मी जीव जानता है कि दयादि के शुभपरिणाम भी विकार है। मैं उनका जीतनेवाला हूँ परन्तु उनका करने अथवा भोगनेवाला नहीं हूँ। त्रिकाली आत्मा को क्षणिक विकार का कर्ता माननेवाले को त्रिकाली स्वभाव का पता नहीं है, अर्थात् वह धर्मी नहीं है।

किसी आत्मा में एक तिनके को तोड़ने की सामर्थ्य तीन काल-तीन लोक में भी नहीं है। जड़ परमाणुओं की अवस्था में चैतन्य का अधिकार नहीं है। अज्ञानी जीव, पर का भला-बुरा करना मानता है परन्तु वह भी अपने अज्ञानभाव के अतिरिक्त पर में कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ में अपनी अनन्त शक्ति होने पर भी 'पर का कुछ करे' – ऐसी शक्ति तो किसी द्रव्य में किञ्चित्मात्र भी नहीं है।

समयसार नाटक में कहा है कि –

**सकल वस्तु जगमैं असहाई।**
**वस्तु वस्तु सौं मिलै न कांई॥**
**जीववस्तु जानै जेतौं।**
**सोऊ भिन्न रहै सब सेती॥ 51॥**

*( -नाटक समयसार, सर्वविशुद्ध अधिकार )*

वस्तुतः जगत में सभी पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता और कोई पदार्थ किसी पदार्थ में नहीं मिलता। ज्ञानस्वभावी जीव, जगत के पदार्थों को जानता है परन्तु वे सभी पदार्थ उससे भिन्न ही रहते हैं। ज्ञाता सबको जानता है परन्तु किसी का कुछ करता नहीं। तीन काल-तीन लोक में सभी द्रव्य असहाई हैं, कोई किसी की सहायता करे – ऐसी शक्ति

www.vitragvani.com



किसी भी द्रव्य में नहीं है और कोई किसी से सहायता माँगे – ऐसी पराधीनता किसी द्रव्य में नहीं है। जिसमें जो शक्ति नहीं हो, उसे कोई दूसरा नहीं दे सकता और जिसमें जो शक्ति हो, वह दूसरे का आसरा-सहारा नहीं लेता – यह महासिद्धान्त है। वस्तुस्वभाव की ऐसी स्वतन्त्रता के निर्णय बिना धर्म नहीं होता।

जब श्री तीर्थङ्करदेव की वाणी में ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप का उपदेश हुआ, तब बहुत से पात्र जीवों ने धर्म प्राप्त किया। भगवान की वाणी कान में पड़ते ही कोई जीव तो अन्तर में उतरकर आत्मभान को प्राप्त हुए; कई जीवों में श्रावकदशा प्रगट की और कई जीव तो अन्तर में एकाग्र होकर मुनि हुए; कई स्त्रियाँ, आर्यिका हुई। इस प्रकार भगवान की छत्रछाया में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका – ऐसे चार तीर्थों की स्थापना हुई। तीर्थङ्कर भगवान की वाणी खिरे और धर्म प्राप्त करनेवाले जीव न हो – ऐसा कभी नहीं हो सकता।

कोई कहता है कि 'महावीर भगवान की वाणी खिरी परन्तु किसी जीव ने धर्म प्राप्त नहीं किया; अतः भगवान की पहली देशना व्यर्थ गयी' – तो यह बात यथार्थ नहीं है। अमुक समय तक तीर्थङ्कर भगवान की वाणी नहीं खिरे – यह बात अलग है परन्तु वाणी खिरे और निष्फल जाए – ऐसा तो कभी होता ही नहीं। भगवान की दिव्यवाणी तो 'अमोघवाणी' है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाती। बैशाख शुक्ल दशमी को भगवान महावीर को केवलज्ञान हुआ परन्तु वाणी नहीं खिरी। उनकी वाणी तो छियासठ दिन के पश्चात् श्रावक कृष्ण एकम् के दिन खिरी। वहाँ पहले वाणी की

www.vitragvani.com



योग्यता ही नहीं थी और सामने भी वाणी को झेलनेवाला पात्र जीव नहीं था। जहाँ वाणी खिरने का काल आया, वहीं सामने गौतमस्वामी की भी गणधरपद के लिये तैयारी हुई – इस प्रकार दोनों का सहज मेल हो गया।

भगवान की वाणी छूटे और सामने कोई धर्म समझनेवाला नहीं हो – ऐसा नहीं होता, अर्थात् वहाँ निमित्त-नैमित्तिक का मेल कभी नहीं टूटता। ऐसा होने पर भी भगवान की वाणी के कारण सामनेवाला जीव, धर्म समझ जाता है – ऐसी पराधीनता भी नहीं है।

जब भगवान स्वयं धर्म भूमिका में थे, तब अपने में धर्मवृद्धि के विकल्प के कारण जो कर्म बँधा, उस कर्म के उदय से जो वाणी खिरी, उस वाणी के समय सामने धर्म की वृद्धि करनेवाले जीव भी अवश्य होते ही हैं; नहीं हो – ऐसा नहीं होता।

इसी प्रकार भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि जगत के जीवों को धर्म समझाने के विकल्प उत्पन्न होने पर हमारी जो वाणी रची जाती है तो उस वाणी को झेलकर सत् समझनेवाले भी इस काल में न हो – ऐसा नहीं है। देखो, पाँचवीं गाथा में कहते हैं कि –

**तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**
**जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥ 5॥**

**दर्शाउँ एक विभक्त को, आत्मातने निज विभव से।**
**दर्शाउँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने॥ 5॥**

मैं इस समयसार में आत्मा के निज वैभव से शुद्धात्मा का

www.vitragvani.com



स्वरूप दर्शाता हूँ। 'मैं दिखाता हूँ और तुम प्रमाण करना' – ऐसा कहा तो वहाँ प्रमाण करनेवाले जीव न हो – ऐसा नहीं होता। शुद्धात्मा को कहनेवाली हमारी वाणी निकली और सामने शुद्धात्मा को समझनेवाले न हो – ऐसा त्रिकाल में भी नहीं होता। हम आत्मा की जो बात कहना चाहते हैं, उस बात को झेलनेवाले पात्र जीव हैं, उन्हें हम कहते हैं कि 'तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना।' सामने प्रमाण करनेवाले पात्र जीवों को देखकर यह वाणी निकलती है। 'मैं कहता हूँ, इसलिए तुम मान लेना' – ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते; वे कहते हैं कि मैं अपने आत्मवैभव से कहता हूँ और तू अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। इसमें प्रमाण करनेवाले अन्य जीवों की योग्यता भी आ जाती है।

आत्मा किसी निमित्त को मिलाता नहीं है परन्तु उसके समझने के काल में सत् निमित्त न हो – ऐसा नहीं होता। यहाँ तो आचार्यदेव उपादान–निमित्त की अपूर्व सन्धि से कहते हैं कि जो जीव हमारी शुद्धात्मा को दर्शानेवाली वाणी को निमित्तरूप से स्वीकार करता है, उस जीव के उपादान में भी शुद्धात्मा को समझने की पात्रता है। 'अरे! इस दुषम पञ्चम काल में मेरी ऐसी शुद्धात्मा को कहनेवाली बात प्रमाण करनेवाले नहीं मिलते' – ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते। 'मैं दर्शाऊँ तो प्रमाण करना' – ऐसा कहकर आचार्यदेव तो यह कहते हैं कि 'हमने सीधी तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि सुनी है, तो भगवान की तरह हमारे उपदेश को समझनेवाले भरतक्षेत्र में न हो – ऐसा नहीं है। जैसे भगवान की अमोघ वाणी निकले और उसे समझनेवाले नहीं हो – ऐसा नहीं होता; इसी प्रकार हमारा यह

www.vitragvani.com



शुद्धात्मा का उपदेश हो और इसे समझनेवाले न हों – ऐसा नहीं है।' देखो तो सही! यह अपूर्व सन्धि!

श्री आचार्यप्रभु पुकार करते हैं कि मैं अखण्ड ज्ञानानन्द आत्मा को दर्शाता हूँ, उस आत्मा को तू अनुभव से प्रमाण करना... अन्तर से उत्साह लाकर उसकी हाँ करना... ना मत करना! यह आदेशपूर्वक हुकम नहीं किया है, अपितु यथार्थ स्थित बतलाई है कि हमारे संयोग में समझने योग्य पात्र जीव न हो – ऐसा नहीं है। हम अल्प काल में सिद्ध होनेवाले हैं तो हमारी बात की ना करनेवाले हमारे संयोग में नहीं होते। जैसे, तीर्थङ्कर भगवान के समवसरण में अभव्य जीव नहीं होते; उसी प्रकार हम जो शुद्धात्मा की बात करते हैं, उसका नकार करनेवाले हमारी सभा में नहीं होते।

धर्मवृद्धि के विकल्प से भगवान को पूर्व में तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध हुआ था। उस कर्म के निमित्त से खिरनेवाली वाणी को सुनकर समझनेवाले जीव न हों – ऐसा नहीं हो सकता है।

यह वाणी, धर्मवृद्धि का निमित्त है... परन्तु किसको? कि सामने धर्म समझनेवाले जीव हैं उनको। इस प्रकार समझने की योग्यतावाले पात्रजीव हैं, उनके लिये वाणी निमित्त है – ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का मेल है – ऐसा होने पर भी 'मुझे समझ में नहीं आता' – यह कहकर विपरीत जीव उस वाणी के साथ के निमित्त नैमित्तिकपने की सन्धि को तोड़ देता है... परन्तु यहाँ ऐसे विपरीत जीव की गिनती नहीं है। यहाँ तो पात्र जीवों की ही बात है।

पात्र श्रोताजनों को तो ऐसा लगता है कि 'अहो! ऐसी अपूर्व

www.vitragvani.com



वाणी मिली है तो मैं अवश्य ही अपनी पात्रता से समझकर अल्प काल में मुक्त होऊँगा। भगवान शुद्धात्मस्वभाव की ऐसी अपूर्व बात मेरे कान में पड़ी और वह मेरे अन्तरङ्ग में बैठी... इस कारण अब अल्प काल में मेरी मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।'

आचार्यदेव ने पाँचवीं गाथा में शुद्धात्मा का अनुभव करने को कहा है, तो वहाँ सामने सुननेवाले जीव की वैसी योग्यता को देखकर कहा है। 'किसकी योग्यता... ?' कि जो करे उसकी। सभी जीवों को साथ में रखा है... उसमें से कोई निकल जाए तो वह उसकी नालायकी है परन्तु ऐसे जीवों को हम श्रोता के रूप में स्वीकार ही नहीं करते। जो अन्तर से हाँ पाड़कर यथार्थ बात को समझ जाता है, उसी श्रोता को यहाँ लिया है।

दिव्यध्वनि में चौदह ब्रह्माण्ड के जीवों को आमन्त्रण है कि 'अरे जीवों! तुम्हारे में परमात्मा होने की सामर्थ्य विद्यमान है... तुम मुक्ति के योग्य हो... संसार तो एक समय का ऊपरी विकार है, उसकी जड़ गहरी नहीं है... मोक्ष की जड़ तो गहरी है... अन्तर स्वभाव की गहराई में विकार नहीं भरा है, अपितु मोक्ष का सामर्थ्य भरा है... अपने ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करो... यही धर्म का मूल है। धर्म का मूल गहरा है... और विकार तो क्षणिक है... संसार के काल की अपेक्षा मोक्षदशा का काल अनन्तगुना है... आत्मा में संसार की अपेक्षा अनन्तगुनी मोक्षपर्यायें प्रगट होने की सामर्थ्य विद्यमान है... ऐसे आत्मस्वभाव का भान करने पर एक समय का संसार तो मिट जाता है... ऐसे आत्मा को पहिचानो... उसकी महिमा करो...।'

www.vitragvani.com



अनादि काल से एक-एक समय करके कितनी ही मलिनता का सेवन किया होने पर भी, वह मलिनता एक समय से ज्यादा प्रगाढ़ नहीं हुई है। जो अनन्त काल पूर्व सिद्ध हुए, उनको कम मलिनता थी और अभी सिद्ध होनेवालों को अधिक मलिनता थी – ऐसा नहीं है। अशुद्धता का काल अधिक होने से अशुद्धता की परिपुष्टता नहीं होती है।

सभी आत्माओं के त्रिकाली द्रव्य-गुण तो शुद्ध ही हैं और एक समयमात्र की अशुद्धता पर्याय में है। उस अशुद्धता का काल दीर्घ होने पर भी दो समय की अशुद्धता मिलकर एक समय की पर्याय में उसकी उग्रता की पुष्टि नहीं होती।

मेरे त्रिकाल ध्रुव रहनेवाले पवित्र स्वभाव के समक्ष एक समय के विकार का जोर नहीं है; स्वभाव की महत्ता के आगे विकार की महत्ता नहीं, अपितु तुच्छता है, अर्थात् स्वभाव की दृष्टि से मेरे आत्मा में विकार है ही नहीं; इसलिए मैं विकार का कर्ता नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ; इस प्रकार पहिचानकर विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना धर्मी आत्मा का कार्य है – ऐसे कार्य द्वारा धर्मी जीव पहिचाना जाता है। इस प्रकार भगवान ने दिव्यध्वनि में कहा है; वही बात श्री समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य देव ने बताई है और वही बात यहाँ कही जा रही है।

जो जीव पात्र होकर यह बात समझेगा, वह अल्प काल में मुक्त होगा... और नहीं समझनेवाला तो अनादि से परिभ्रमण कर ही रहा है; अतः उसकी क्या बात करना? संसार, मोक्ष और मोक्ष का मार्ग, सब अनादि-अनन्त है, इनमें से कभी एक का भी सर्वथा

www.vitragvani.com



अभाव होनेवाला नहीं है। हाँ, एक जीव अपने संसार का अभाव करके मोक्षदशा प्रगट करता है, उसकी अपेक्षा से संसार का अन्त और मोक्ष की आदि है। जो जीव, चैतन्यतत्त्व को समझता है, उसकी मुक्ति होती है... वरना परिभ्रमण करने की बात यहाँ नहीं है।

दिव्यध्वनि के निमित्तरूप रजकणों के बाँधने के काल में जीव को अत्यन्त निर्मानता होती है; अन्तर में चैतन्यभगवान की महिमा भासित हुई होने से पर में कहीं अभिमान नहीं होता। ज्ञानी, मान के विकल्प को भी अपना कार्य नहीं मानता। देखो, तीर्थङ्करनामकर्म किसे बँधता है ? अज्ञानी को नहीं बँधता। अज्ञानी तो प्रतिक्षण जगत के पदार्थों का अभिमान करके स्वभाव को भूलता है।

ज्ञानी अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव को जानता है और मान को अपना नहीं मानता। उसे स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं भी स्वामीपना नहीं रहा है। अहो! मेरे अनन्त चैतन्यस्वभाव का मान मेरे पास है, जगत के पदार्थों में मेरा मान नहीं है, किसी पर के कारण मेरे आत्मा की महिमा नहीं है; मेरी महिमा मेरे स्वभाव से ही है, इस प्रकार स्वभाव की महिमा के जोर से उसे मान को गलाकर निर्मानता हो गयी है और निर्मल स्वरूप की अनुभूति में उस धर्मात्मा को किञ्चित् राग अवशेष रह गया है, उससे त्रिभुवननाथ हो – ऐसा तीर्थङ्करनामकर्म बँध जाता है और इन्द्र उसके चरणों में शीश झुकाते हैं।

मान, चाहनेवाले को नहीं मिलता है। सच्चा मान तो अपने परिपूर्ण स्वभाव की मान्यता (श्रद्धा) करने में ही है। अज्ञानी, पर

www.vitragvani.com



का मान करता है, अर्थात् पर से अपनी महत्ता मानता है, उसको तीर्थङ्करनामकर्म नहीं बँधता। ज्ञानी को चैतन्यस्वभाव की महिमा के समक्ष पर का अहंकार उड़ गया है, वह तीन लोक का नाथ होता है।

जो पर्याय मेरे स्वभावसन्मुख होकर अभेद हुई, उसका मैं कर्ता हूँ और वह निर्मल पर्याय मेरा कर्म है। जब विकारपरिणाम भी मेरा वास्तविक कर्म नहीं है तो फिर जड़ की क्रिया तो मेरा कर्म कैसे हो सकती है? मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्ता और निर्मल पर्याय मेरा कर्म; उसका साधन भी मैं ही हूँ, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी मैं ही हूँ। परमार्थ से द्रव्य-पर्याय की अभेदता में तो कर्ता-कर्मादि भेद का विकल्प भी नहीं है। मैं एक अखण्ड ज्ञायक हूँ – इस प्रकार धर्मी की दृष्टि, अभेद स्वभाव पर पड़ी है और उस दृष्टि में निर्मल-निर्मल पर्यायें होती जाती हैं, वही धर्मी का धर्म-कर्तव्य है।

धर्मी को भी शुभराग के समय देव-शास्त्र-गुरु के बहुमान का भाव आता है परन्तु वस्तुतः तो वे पर का बहुमान नहीं करते, क्योंकि बहुमान का शुभराग उस परपदार्थ के कारण नहीं हुआ है और दृष्टि में शुभराग का कर्तृत्व भी नहीं रहा है। पर्यायबुद्धिवाला जीव, देव-शास्त्र-गुरु आदि पर को देखकर उनके कारण बहुमान का भाव होना मानता है। देव-शास्त्र-गुरु अच्छे हैं; इस कारण मुझे उनके बहुमान का राग आता है – ऐसा मानकर वह राग करता है और स्वभावदृष्टि नहीं होने से उस राग को ही अपना स्वरूप मानकर उसका कर्ता होता है – ऐसे जीव को भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है।

www.vitragvani.com



जगत में देव-शास्त्र-गुरु आदि तो सदा हैं। यदि उनके कारण राग होता है, तब तो राग सदा ही हुआ करेगा। जिसने पर के कारण राग होना माना, उसके अभिप्राय में राग सदा हुआ ही करता है, उसे पर से हटकर स्वोन्मुख होने का अवसर नहीं रहता। धर्मी को राग होने पर वह जानता है कि यह राग मेरी पर्याय की कमजोरी से होता है, मेरी पर्याय में से अभी राग होने की योग्यता सर्वथा नहीं मिटी है, इसलिए राग होता है; पर के कारण राग नहीं होता और स्वभाव में राग है नहीं। स्व में एकाग्रता से पर्याय की कमजोरी दूर होने पर राग मिट जाएगा। तात्पर्य यह है कि धर्मी को पर अथवा राग की भावना नहीं है, परिपूर्ण स्वभाव की ही भावना है। इस प्रकार धर्मी और अधर्मी जीव की मान्यता में महान अन्तर है।

हे भाई! तू भावना तो स्वभाव की कर! स्वभाव की भावना करने के लिए पहले यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय कर। यदि वास्तव में परवस्तु ही तेरे राग का कारण हो, तब तो परवस्तु ही राग की खान हो गयी और ऐसा होने पर तो, परवस्तु त्रिकाल होने से राग भी तीनों काल हुआ ही करेगा। इसलिए अपना यह मिथ्या अभिप्राय छोड! राग, पर के कारण नहीं, किन्तु अपनी पर्याय के अपराध के कारण ही होता है – ऐसा समझ और ध्रुव चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करके उस राग की बुद्धि भी छोड़ – यही तेरे कल्याण का मार्ग है।

ज्ञानी को पर्याय की कमजोरी से अल्प रागादि होते हैं परन्तु वे उनका कारण पर को नहीं मानते और न उस पर्याय के राग को द्रव्यस्वभाव में स्वीकारते हैं। इस प्रकार जो राग के कारण को नहीं

www.vitragvani.com



समझता, उसे तो वस्तुस्थिति का भी पता नहीं है और वस्तु के भान बिना वह राग का अभाव नहीं कर सकता।

देखो, वास्तव में यह जिनमन्दिर अथवा वीतरागी भगवान की प्रतिमा, शुभराग का कारण नहीं है। यदि यही कारण हो, तब तो सभी जीवों को इनका बहुमान करने आना चाहिए। इसलिए ये राग का कारण नहीं है। जिन जीवों की पर्याय में उस प्रकार के राग की योग्यता होती है, उनको ही वैसा राग होता है और उस राग के समय उन निमित्तों पर लक्ष्य जाता है। इस प्रकार पर्याय की योग्यता के सिवाय अन्य कोई कारण है ही नहीं। कहे जानेवाले अन्य सभी कारण उपचार से है।

'श्री महावीरभगवान की उपस्थिति के कारण गौतम स्वामी को राग था और भगवान का निर्वाण होने पर वह राग मिटा' – यह अज्ञानी की मान्यता है। वास्तव महावीरभगवान थे, इसलिए गौतमस्वामी को राग नहीं था परन्तु उनकी अपनी इतनी कमजोरी से ही वह राग रहा था और फिर उनकी कमजोरी के अभाव से राग का अभाव हुआ तथा 'अपने निर्वाण के समय भगवान ने गौतमस्वामी को दूर भेजा और फिर आकर गौतमस्वामी ने विलाप किया' – यह बात भी मिथ्या है। अहो! गौतमगणधर कौन हैं? केवलज्ञान लेने की तैयारी में झूलते महान सन्त हैं। तब उन्हें रुदन कैसा? अनन्त आनन्द की धामरूप मुक्ति के साधक मुनिवर परम प्रसन्न होते हैं, उनको कभी रुदन नहीं होता।

श्री भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि हे जीवों! तुम्हारा मूल चैतन्यस्वभाव सिद्धसमान शुद्ध है; वह स्वभाव, राग का

www.vitragvani.com



कारण नहीं है; राग का मूल कारण, चारित्रपर्याय की कमजोरी के अलावा अन्य कोई नहीं है। इस स्वरूप को समझे बिना पण्डिताई और व्रतादि सभी 'रण में पीठ दिखाने' के समान है, उनसे पुण्य बँधता है परन्तु आत्मा को शरण नहीं मिलती, अर्थात् धर्म नहीं होता।

भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि प्रत्येक द्रव्य, गुण तथा विकारी-अविकारी पर्यायें – ये सभी स्वतन्त्र है। ऐसी स्वतन्त्रता को समझने से निर्विकारी द्रव्य-गुण के आश्रय से पर्याय का विकार मिटकर निर्मलानन्दी मुक्तदशा हुए बिना नहीं रहती। इसी विधि से भगवान ने मुक्ति प्राप्त की है और यही मोक्ष का मार्ग उन्होंने जगत को बतलाया है। उनकी वाणी में कथित इस मार्ग को समझकर जगत के जीव, मोक्ष प्राप्त न करें – ऐसा नहीं हो सकता। जो समझा है, वह मोक्ष प्राप्त करता है... नहीं समझनेवाले की बात नहीं है... समझे उसकी बलिहारी है...। दिव्यध्वनि, मुक्तजीव को वाणी है और उसका फल मुक्ति है।

इस प्रकार समवसरण में भगवान का उपदेश सुनकर बहुत से जीव मुनि हुए... श्रावक हुए... धर्म को प्राप्त किया। अभी भी उस वाणी के प्रवाह से जीव, धर्म प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी अनेक जीव, धर्म प्राप्त करेंगे। इस प्रकार भगवान द्वारा बताया गया मोक्ष का मार्ग शाश्वत् है। ●●

मोक्षकल्याणक प्रवचन - 3

# जिनवर तुल्य जिन प्रतिमा

आज यहाँ के जिन मन्दिर में भगवान श्री सीमन्धरप्रभु की प्रतिष्ठा का दिन है, इसलिए माङ्गलिक है और श्रुत पूजा का पवित्र दिवस, श्रुत पञ्चमी होने से भी आज माङ्गलिक है। दो हजार वर्ष पहले श्रुतज्ञान की प्रतिष्ठा का महा-महोत्सव आज के दिन हुआ था और आज यहाँ श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा हो रही है; इसलिए आज दोहरा माङ्गलिक महोत्सव है।

इस सौराष्ट्र देश में आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले गिरनार पर्वत की चन्द्र गुफा में श्री धरसेनमुनि नामक महान दिगम्बर सन्त आचार्य ध्यान करते थे। उन्हें अङ्ग-पूर्व का एकदेश का ज्ञान था। वे महान् विद्वान् और श्रुत-वत्सल थे।

एक बार उन्हें ऐसा भय हुआ कि अब मेरे बाद अङ्ग श्रुत का विच्छेद हो जाएगा! इसलिए उन्हें किसी समर्थ मुनियों को अङ्ग-श्रुत ज्ञान पढ़ाने का विकल्प उत्पन्न हुआ। इसके लिए दक्षिण देश में धर्मोत्सव के प्रसङ्ग में एकत्रित हुए आचार्यों को समाचार भेजा और धरसेनाचार्यदेव के आशय को समझ कर उन

www.vitragvani.com



आचार्यों ने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो महा-समर्थ, विनयवन्त मुनियों को उनके पास भेज दिया।

जब वे दोनों मुनि आ रहे थे, तब यहाँ धरसेनाचार्यदेव ने ऐसा मङ्गल स्वप्न देखा कि दो उत्तम श्वेत वृषभ तीन प्रदक्षिणा करके नम्रतापूर्वक चरणों में नमस्कार कर रहे हैं। यह स्वप्न देखते ही उनके श्रीमुख से उत्साहपूर्वक 'श्रुतदेवता जयवन्त हो' – ऐसा आशीर्वाद वचन निकला। उसी दिन श्री पुष्पदन्त और भूतबलि मुनिराज आ पहुँचे। श्री आचार्यदेव ने हीनाधिक अक्षरोंवाला मन्त्र विद्यासाधना के लिए देकर उनकी परीक्षा की। तत्पश्चात् सर्वज्ञ परम्परा से प्रवाहित श्रुतज्ञान का अंश (षटखण्डागम) उन्हें पढ़ाया। तत्पश्चात् उन पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य भगवन्तों ने षट्खण्डागम की रचना की और ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी के दिन अङ्कलेश्वर में महा-महोत्सव करके चतुर्विध संघसहित इस पवित्र श्रुतज्ञान की पूजा की। तब से आज का दिन श्रुत पञ्चमी के रूप में प्रसिद्ध है और प्रति वर्ष यह पर्व मनाया जाता है।

इस प्रकार आज श्रुत की प्रतिष्ठा का महा मङ्गलमय दिन है और यहाँ भी श्री सीमन्धर भगवान की प्रतिष्ठा का महोत्सव है। इस प्रकार माङ्गलिक में माङ्गलिक का सुमेल हो गया है।

भगवान के विरह के समय भगवान की प्रतिमा में उनकी स्थापना की जाती है। तीर्थङ्कर भगवान की वीतरागी प्रतिमा भी तीर्थङ्कर तुल्य है। देखो, पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'जिन प्रतिमा जिन सारखी' – हे भगवान! आपकी वीतरागी ध्यानरूप प्रतिमा को देखकर हमें ज्ञायक विम्ब का स्मरण होता है। ऐसी

www.vitragvani.com



प्रतिमा को भगवान के रूप में कौन मानता है ? तो कहते हैं कि –

**कहत बनारसी अलप भव थिति जाकी,**
**सोइ जिनप्रतिमा प्रमानै जिन सारखी॥**

जिसको अन्तर में चैतन्यस्वभाव आत्मा का लक्ष्य है और बाहर में निमित्तरूप पूर्णदशा प्राप्त श्री परमात्मा की जिसे पहिचान हुई है, वह साक्षात् सर्वज्ञदेव के विरह के समय उनकी प्रतिमा को सर्वज्ञदेव के रूप में स्थापित करता है और इस प्रकार भानपूर्वक जिनप्रतिमा को जिनवर तुल्य मानकर दर्शन-पूजनादि करता है।

अहो! भगवान ऐसे पूर्ण सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए और मेरा स्वभाव भी ऐसा ही है – ऐसी भावना से भी बहुत निर्जरा होती है। भगवान जैसा ही अपना स्वभाव है – ऐसे लक्ष्यपूर्वक जो जिनप्रतिमा को जिनवर तुल्य मानता है, उसे अधिक भव नहीं होते।

'श्री परमात्मप्रकाश' में आचार्य योगीन्दुदेव कहते हैं कि – इस जीव को अनादि संसार में दो वस्तुएँ मिलना अत्यन्त दुर्लभ हैं। कौन-सी दो वस्तुएँ? एक तो शुद्ध सम्यक्त्व और दूसरे श्री जिनवरस्वामी। जिनवरस्वामी वस्तुतः कब मिले कहलायें? संयोगरूप से तो भगवान बहुत बार मिल गये हैं परन्तु अन्तर में भगवान के समान अपने आत्मा का लक्ष्य करे तो वस्तुतः जिनवरस्वामी मिले कहलाते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान श्री प्रवचनसार में कहते हैं कि जो जीव, अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह जीव वास्तव में अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है।

www.vitragvani.com



आत्मा को वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करना अनन्त काल में दुर्लभ है और उस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का योग मिलना भी महादुर्लभ है। सच्चे देव-गुरु क्या कहते हैं – यह समझने का अवसर अनन्त काल में आता है। ऐसे प्रसङ्ग को बारम्बार उत्साह से बढ़ा लेना चाहिए। बाहर का प्रसङ्ग तो उसके कारण बनता है परन्तु अन्दर में सच्ची समझ का उत्साह चाहिए। आत्मा की समझ की दरकार के बिना मात्र बाहर की हो-हा करे, उसमें कल्याण नहीं है।

आत्मा के भान के बाद भी वीतरागी देव-गुरु के प्रति बहुमान और भक्ति का भाव तो आता है परन्तु ज्ञानी उसे धर्म नहीं मानता; वह उस शुभराग में ही सर्वस्व मानकर उसमें अटक नहीं जाता। अज्ञानी जीव तो उस राग में ही सर्वस्व मानकर, उसे ही धर्म मानकर वहीं अटक जाते हैं।

अष्टाह्निका महोत्सव के दिनों में बहुत से सम्यग्दृष्टि देव भी नन्दीश्वरद्वीप जाते हैं, और वहाँ शाश्वत विराजमान रत्नमणि के जिनबिम्बों के दर्शन-पूजन करके भक्ति से नाच उठते हैं। अन्तर्दृष्टिपूर्वक ज्ञानी की भक्ति का खेल अज्ञानी को समझना कठिन पड़ता है।

भगवान की उपशान्त प्रतिमा के समक्ष तीन ज्ञान के धारी एकावतारी सम्यग्दृष्टि इन्द्र-इन्द्राणियाँ भी नन्हीं बालिकाओं की तरह भक्तिभाव से नाच उठते हैं; उनको अन्दर में चैतन्यबिम्ब आत्मा का भान है – ऐसी निश्चय की भूमिका होने पर भी निचलीदशा में वैसा राग आता है और उस राग के निमित्तभूत वीतरागी जिनबिम्ब हैं। जो ऐसे राग को अथवा निमित्त को ही नहीं

www.vitragvani.com



मानता, वह भी अज्ञानी है और उस राग से अथवा निमित्त से धर्म मानता है, वह भी अज्ञानी है। वस्तुस्थिति तो जैसी है, वैसी जानना चाहिए।

श्री पद्मनन्दि पञ्चविंशति में प्रतिदिन करने योग्य श्रावक के षट कर्मों का वर्णन करते हुए कहा है कि –

**देवपूजा गुरोपास्ति स्वाध्याय संयमस्तपः।**
**दानंच्येति गृहस्थानां षटकर्माणि दिने दिने॥**

*( -श्रावकाचार )*

श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा, गुरुओं की उपासना स्वाध्याय, संयम, तप और दान – ये छह कार्य गृहस्थों को प्रतिदिन / हमेशा करने योग्य हैं।

सर्वज्ञ भगवान कैसे होते हैं, गुरु कैसे होते हैं? – उनकी पहिचान की मुख्यतासहित की यह बात है। मुनि तो ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं, इसलिए उनकी बात अलग है परन्तु गृहस्थ तो अनेक प्रकार के हिंसादि पाप में पड़े हैं, उन पापभावों से बचने के लिए देवपूजा आदि का उपदेश है। इस उपदेश में गृहस्थों को इस प्रकार का राग होता है, उसका ज्ञान कराया है। धर्म तो अन्तर के ध्रुव चैतन्यस्वभाव के आश्रय से जो वीतरागीभाव होते हैं, उसमें ही है। यह अनादि वीतरागी शासन का वर्णन है। यहाँ जिनकी स्थापना हो रही है, वे श्री सीमन्धर भगवान अभी महाविदेहक्षेत्र में यही बात कह रहे हैं। इस बात को समझनेवाले जीव का कल्याण है और नहीं समझनेवाले तो परिभ्रमण कर ही रहे हैं; अतः उनकी क्या बात करना?

www.vitragvani.com



देखो, भगवान के पञ्च कल्याणक में भगवान द्वारा कथित आत्मस्वभाव को समझे तो कल्याण होता है; इसलिए आत्मा का स्वभाव क्या है ? उसकी समझ करने की ही मुख्यता है और वही धर्म का मूल है। ●●

## मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ

मुनिराज की देह छूट जाए तो वहाँ रोनेवाला कोई नहीं है। रोनेवाला होगा कौन ? कोई नहीं। मुनिराज तो गुफा के मध्य अन्तर आनन्द में स्थित होते हैं। अहा! देखो, ऐसा मुनिपना!! वह एक वस्तु स्थिति है – ऐसी दशा प्रगट करनी पड़ेगी। प्रभु! इसके बिना मुक्ति नहीं होगी। भाई! अकेले सम्यग्दर्शन और ज्ञान से कहीं मुक्ति नहीं हो जाती। श्रावक को तीन मनोरथ होते हैं – 1. कब परिग्रह का परित्याग करूँ, 2. कब मुनिपना अङ्गीकार करूँ और 3. कब संसार से छूटूँ ? मुनिराज, परीषह और उपसर्ग आने पर प्रचुर पुरुषार्थपूर्वक निज ज्ञायक का अवलम्बन लेते हैं। श्रावक को अन्दर से ऐसी पवित्र मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ वर्तता है।

*( आत्मधर्म, वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण सम्वत् 2486 )*

सोनगढ़ पञ्च कल्याणक प्रवचन

## भक्त के हृदय में उछलती

# जिनेन्द्र-भक्ति की लहरें

इस देह देवल में चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा रहा हुआ है। वह आत्मा शान्ति और सुख स्वभाववाला है। शान्ति अथवा सुख के लिए उसे देह, मन, वाणी की आवश्यकता नहीं है। देह और इन्द्रियों के लक्ष्य से माना हुआ सुख, वह वास्तविक सुख नहीं है परन्तु विकार है।

जिसे आत्मा का भान नहीं है और लक्ष्मी इत्यादि में सुख माना है, उस जीव को लक्ष्मी की रुचि होने से वह लक्ष्मीवाले के गुणगान करता है और जिसे रागरहित आत्मा का भान है, वीतरागता रुचिकर हुई है, वह जीव, वीतराग परमात्मा को पहचान कर उनके गुणगान करता है। जैसे, घर में लक्ष्मीवाले दो-चार बड़े मेहमान अथवा राजा आवें, वहाँ अज्ञानी लक्ष्मी की रुचिवाला होने से उनके गुणगान करते हुए कहता है कि आज मेरे स्वर्ण का सूरज उगा... परन्तु वहाँ तो मात्र ममता का पोषण है। यहाँ वीतरागता की भावनावाला भगवान का पुत्र कहता है कि धन्य भाग्य! आज हमारे

www.vitragvani.com



आँगन में भगवान पधारे... आज हमारे सोने का सूरज उगा। इस प्रकार परमात्मा को पहचान कर उनके गीत गाना, वह सच्ची भक्ति है।

जिस प्रकार छह माह के छोटे बालक को पैसा क्या चीज है? – इसका पता नहीं है, उसे तो मात्र माता का दूध प्रिय है; इसलिए उसे लक्ष्मी के प्रति प्रेम कैसे आयेगा? उसी प्रकार जिसने आत्मा के वीतराग स्वभाव को नहीं पहिचाना है, वीतराग भगवान को नहीं पहिचाना है, उसे वीतराग भगवान के प्रति वास्तविक प्रेम नहीं आता। जिसे वीतरागता का भान है, वह तो वीतराग भगवान को देखते ही भक्ति से उल्लिसित हो जाता है।

यह शरीर तो हड्डी इत्यादि का पिण्ड है। वह तो अनाज, दूध आदि से हुआ है। आत्मा, माता के गर्भ में आया, तब इस शरीर को साथ नहीं लाया था... तथा बाद में भी शरीर की तो श्मशान में राख होगी और आत्मा अन्यत्र चला जाएगा। अन्दर आत्मा, देह से भिन्न है, वह नित्य टिकनेवाला है। ऐसे आत्मा में ही सुख है, उसको भूलकर अज्ञानी जीव इस शरीर, मान, प्रतिष्ठा, धनादिक बाह्यपदार्थों में सुख मानता है; इसलिए वह उनका गुणगान करता है; अतः वह जीव, सर्वज्ञ वीतरागदेव का बहुमान कैसे कर सकेगा? देह और इन्द्रियों के बिना जिन्हें सच्चा सुख प्रगट हो गया है – ऐसे वीतरागी परमात्मा का स्वरूप जाने बिना उनके गुणगान नहीं हो सकते है। जिसे विषयों में सुख की बुद्धि है, वह कदाचित् भगवान के पास जाएगा तो वहाँ भी पुण्य और स्वर्गादि की महिमा करेगा।

www.vitragvani.com



'हे परमात्मा! आप पूर्ण हो गये हो, आपको ज्ञान और सुख पूर्ण प्रगट हो गये हैं... मैं भी शक्ति से आपके समान परिपूर्ण होने पर भी अभी अवस्था से अपूर्ण हूँ; मेरा सुख मेरे स्वभाव में भरा है, उसे प्रगट करने के लिये आपकी पूर्णता का अनुमोदन करते हुए, उसके गीत गाते हुए, संसार का प्रेम तोड़कर वीतरागता में अभिवृद्धि करूँगा।' – जिसे ऐसा ज्ञान होता है, वही वीतराग प्रभु की सच्ची स्तुति करता है।

देखो, यहाँ श्री सीमन्धर भगवान की प्रतिष्ठा (पञ्च कल्याणक) होना है। वे सीमन्धर परमात्मा अभी महाविदेह क्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं। सीमन्धर अर्थात् क्या? सीमन्, अर्थात् सीमा / मर्यादा और धर, अर्थात् धरनेवाले। आत्मा के स्वरूप की मर्यादा को जो धारण करते हैं, वे सीमन्धर हैं। आत्मा के ज्ञानस्वरूप की मर्यादा में राग-द्वेषादि नहीं हैं। इस प्रकार राग-द्वेषरहित ज्ञानस्वभाव की मर्यादा को भगवान ने धारण किया है, अर्थात् भगवान के आत्मा को उत्कृष्ट ज्ञानदशा प्रगट हुई है। भगवान के समान अपने आत्मा का स्वभाव पहचानने को भगवान की स्तुति कहा जाता है। भगवान की स्तुति कहो अथवा भगवान का गुणगान कहो। (– एक ही है।)

हे नाथ! आपके जैसी पूर्ण दशा मुझ में प्रगट नहीं है परन्तु हे प्रभु! जितना सामर्थ्य आप में है, उतना ही परिपूर्ण सामर्थ्य मुझ में भरा है। आपके समान मेरे स्वभाव में एकाग्र होने पर मेरा राग मिटकर सुख मिलेगा... इस प्रकार मैं भी पूर्ण परमात्मा हो जाऊँगा – इसका नाम भगवान की भक्ति है। जिसे ऐसा भान नहीं है, वह

www.vitragvani.com



वास्तव में भगवान के गीत अथवा भगवान की स्तुति नहीं करता; वह तो मात्र राग और पुण्य के गीत गाता है।

यहाँ पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका के इस अधिकार में आचार्यदेव ने श्री शान्तिनाथ भगवान की स्तुति की है। उसके पहले श्लोक में कहते हैं कि –

**त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं।**
**यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते॥**
**अश्रान्तोद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भर्त्सितार्कप्रभं।**
**सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा॥**

जिनके मस्तक पर तीन लोक का स्वामित्व सूचित करनेवाले और चन्द्र-समान इन्द्र रचित तीन छत्र सुशोभित हो रहे हैं तथा निरन्तर उदयमान ऐसी केवलज्ञान की निर्मल क्रान्ति द्वारा जिन्होंने सूर्य की प्रभा को भी ढँक दिया है और जो सर्व पाप से रहित हैं – ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान सदा हमारी रक्षा करें।

जो पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त हुए हों और पुण्य में भी परिपूर्ण हों, वे तीर्थङ्कर भगवान हैं। पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त करके मुक्त होनेवाले बहुत जीव होते हैं परन्तु जो स्वयं पूर्ण आत्मस्वरूप को पाकर अपना कल्याण करें तथा दूसरे लाखों-करोड़ों जीवों को कल्याण में निमित्त हों – ऐसे तीर्थङ्कर होनेवाले जीव तो अति अल्प होते हैं। भरतक्षेत्र में इस चौबीसी में श्री शान्तिनाथ भगवान सोलहवें तीर्थङ्कर हुए हैं। अभी तो वे मोक्षदशा में सिद्धरूप से विराजमान हैं परन्तु जब वे इस भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कररूप से विचरण करते थे, तब का उपचार करके आचार्यदेव उनकी स्तुति करते हैं –

www.vitragvani.com



भगवान को पूर्ण आत्मदशा प्रगट हुई है और भगवान पर भक्तिपूर्वक मणिरत्न के तीन छत्र इन्द्र रचते हैं, वह उनके पुण्य का अतिशय है। आचार्यदेव कहते हैं – हे नाथ! यह तीन छत्र ऐसा सूचित करते हैं कि आप ही तीन लोक के नाथ हो... तीन लोक में सार में सार हो तो वह अनन्त ज्ञान को प्राप्त आप का आत्मा ही है। इसके अतिरिक्त देह, मन, वाणी अथवा इन्द्रिय विषय, वे कोई इस जगत् में सार नहीं हैं।

देखो, यहाँ सीमन्धर प्रभु की प्रतिष्ठा में महावीर भगवान के पञ्च कल्याणक होंगे, उसमें बहुत आयेगा। जब गर्भकल्याणक होगा, तब इन्द्र आकर भगवान के माता-पिता की स्तुति करते हुए कहेंगे कि अहो! धन्य माता! और धन्य पिता! हे माता! आप जगत् की माता हैं, आपके उज्ज्वल गर्भ में छह महीने के पश्चात् एक त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर का आत्मा आनेवाला है। हे त्रिलोकनाथ की जनेता! हे जगत् जननी!! आप तो धन्य हैं। देखो, अभी तो भगवान का आत्मा स्वर्गादिक में हो और वहाँ की आयु छह महीने शेष रहने पर, जहाँ तीर्थङ्कर के भव का आयुष्य बँधता है, वहाँ तो इन्द्र के आसन भी चलायमान होते हैं और इन्द्र अवधिज्ञान से देखता है कि यह क्या? अहो! त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर भगवान छह महीने पश्चात् इस माता के गर्भ में पधारनेवाले हैं.... ऐसा जानकर इन्द्र भी तीर्थङ्कर प्रभु के माता-पिता की प्रशंसा करता है... और प्रतिदिन रत्नवर्षा होती है। यह सब भगवान के गुणों की महिमा है।

जिस प्रकार आश्विन शुक्ल पूर्णिमा की बूँद जिस सीप में पड़ती है, वह सीप भी अलग जाति की होती है और उसमें से

www.vitragvani.com



कीमती रत्न पकते हैं। उसी प्रकार त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर का आत्मा जिनके यहाँ अवतरित होगा, वे माता-पिता भी अल्प काल में मोक्षगामी होते हैं। साधारण घर में भगवान का अवतार नहीं होता।

जब भगवान बालकरूप से जन्म लेते हैं, तब इन्द्र उनके सामने भक्ति करता है तो फिर केवलज्ञान होने पर मुनिवर और इन्द्र उनकी स्तुति करे – उसमें क्या आश्चर्य है।

भगवान तो वीतराग हैं, भगवान की धर्मसभा में कोई तत्त्वज्ञान का सीधा विरोध नहीं कर सकता। मुनिवर भी सर्वज्ञ-वीतराग भगवान का स्तोत्र बनाकर अन्तर में अपनी वीतरागता का घोलन करते हैं। इन्द्र तो स्तुति करते ही हैं और मुनिवर भी भगवान की स्तुति करते हैं। अहो! भगवान को सर्वज्ञता प्रगट हुई... ऐसा केवलज्ञान लेने के लिये, संसार का तीव्र राग नष्ट करने हेतु, सर्वज्ञ वीतराग क्या है? – वह पहचान कर मुझे भी ऐसा सर्वज्ञपना और वीतरागता ही आदरणीय है, अन्य कोई रागादिभाव आदरणीय नहीं है – ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करने से कर्म का तो भुक्का उड़ जाता है।

रागरहित स्वभाव का भान होने पर भी, अस्थिरता का अल्पराग रहे, उस राग से उत्कृष्ट पुण्य बँध जाता है परन्तु धर्मी को उस राग की भावना नहीं है। जहाँ बहुत अनाज पकता है, वहाँ साथ में घास भी होता है परन्तु किसान की दृष्टि अनाज पर होती है; उसी प्रकार साधक भूमिका में राग के कारण पुण्य हो जाए परन्तु धर्मात्मा की दृष्टि रागरहित स्वभाव पर होती है।

यहाँ आचार्यदेव श्री शान्तिनाथ भगवान का स्तवन करते हैं।

www.vitragvani.com



समस्त आत्माओं का स्वभाव शान्तिनाथ भगवान जैसा है। अन्दर में शान्तिस्वरूप परमार्थपना भरा है, उसे पहचान कर जिसने प्रगट किया, वह त्रिलोकनाथ भगवान हुआ है – ऐसी पहचान करना वह भगवान की सच्ची स्तुति है।

हे नाथ! आपको केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वही सार है। आपके केवलज्ञान की प्रभा तो निरन्तर उदयमान है। सूर्य की प्रभा तो प्रातः उगती है और सायंकाल अस्त हो जाती है परन्तु आपके केवलज्ञान की प्रभा तो उगी सो उगी... वह कभी अस्त नहीं होती। हे प्रभु! आपके ऐसे त्रिकाली ज्ञान की महिमा के समक्ष चार ज्ञान की भी महिमा हमें नहीं लगती तो रागादि का आदर तो होगा ही कैसे? केवलज्ञान में एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात होते हैं। इस आत्मा को सार में सार वस्तु हो तो वह केवलज्ञान है।

हे नाथ! मुझे सम्यक्मति श्रुत ज्ञान है परन्तु मेरी नजर केवलज्ञान पर है। अन्दर पूर्ण स्वभाव शक्ति पड़ी है, उस का भान है और उस शक्ति में लीन होकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने की भावना है... यह अल्प ज्ञान वर्तता है, उसकी महिमा नहीं है। इस प्रकार स्तुति करते-करते आचार्यदेव कहते हैं कि श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो। भक्ति में तो निमित्त से बोला जाता है परन्तु उसका भाव ऐसा है कि आत्मा के शान्तिस्वरूप वर्तमान विकार अवस्था में से बचाओ और पूर्ण परमात्म पद प्रगट करो।

हे वीतराग परमात्मा! आत्मा निर्मल आनन्दघन है – ऐसी दशा मुझे प्रगट हो, उसकी मैं भावना करता हूँ और आपको वैसी पूर्णानन्ददशा प्रगट हो गयी है, इस कारण आपके गीत गाता हूँ।

www.vitragvani.com



मुझे जो रुचिकर है, मैं उसके गीत गाता हूँ। मेरी जो वर्तमान साधक अवस्था है, उसमें से मैं वापस नहीं गिरुँ और स्वभावदृष्टि के जोर से अप्रतिहतरूप से आगे ही बढ़कर पूर्ण होऊँ – ऐसी भावना से स्तुतिकार निमित्त अपेक्षा कहते हैं – हे शान्तिनाथ भगवान! आप हमारी रक्षा करो।

जो जीव, भगवान के पास शरीर की रक्षा करने की भावना करता है, उसे तो अशुभभाव है। कोई कहे कि शरीर अच्छा हो तो संयम पलेगा – तो उसकी बात मिथ्या है। शरीर तो हड्डी और चमड़े का पिण्ड है, क्या उसके आधार से संयम रहता होगा? संयम तो आत्मा की निर्मलदशा है। आत्मा के पवित्र गुणों का भान करके, उसके आश्रय में रहने से इन्द्रियदमन का भाव प्रगट होता है, उसका नाम संयम है। वह संयमभाव आत्मा के आश्रय से है, शरीर के आश्रय से नहीं। शरीर में रोग-निरोग अवस्था होना, वह शरीर के आधीन है और अन्दर आकुलता अथवा शान्ति करना, वह आत्मा के आधीन है।

**प्रश्न :** आत्मा तो अनन्त बल का स्वामी है – ऐसा आप कहते हो न?

**उत्तर :** हाँ, आत्मा अनन्त बल का स्वामी है, यह बात सत्य है परन्तु वह बल अपने में या पर में? आत्मा की शक्ति पर में कुछ नहीं कर सकती। जड़ देह, मन, वाणी इत्यादि पर आत्मा का पुरुषार्थ कुछ काम करे या असर करे – ऐसी मान्यता महा-मूर्खता है तो उसे जड़-चेतन की भिन्नता का भी भान नहीं है। अपने में अनन्त ज्ञान-सुख इत्यादि प्रगट करने की अनन्त शक्ति आत्मा में

www.vitragvani.com



है परन्तु शरीरादि में फेर-फार करने की आत्मा में किञ्चित् भी शक्ति नहीं है।

भगवान के पास अपने अनन्त केवलज्ञान की भावना करने के बदले शरीर और पुण्य की भावना करनेवाले को सच्ची भावना करना ही नहीं आता। जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा प्रसन्न होकर कहे कि 'माँग... माँग... तू जो माँगे वह दूँगा।' तब कोई मूर्ख यह कहे कि 'झाड़ू निकाल दे' – तो उसे माँगना ही नहीं आता। इस प्रकार चैतन्य चक्रवर्ती भगवान में केवलज्ञान देने की ताकत है, उसके बदले भगवान के पास जाकर कोई ऐसी भावना करे की हे भगवान! शरीर ठीक रखना और पुण्य देना... तो वह मूर्ख है। जिसे जड़ की और राग की भावना है, वह भगवान का भक्त नहीं है... वीतराग का दास नहीं है; वह आत्मा का दास नहीं किन्तु जड़ का दास है।

जिसे अपनी पूर्णता की भावना है, वह सर्वज्ञ परमात्मा की पूर्णता को पहचान कर उनकी स्तुति करता है। यहाँ पद्मनन्दि आचार्य श्री शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हैं। उसमें पहले श्लोक में तीन छत्र का वर्णन करके भगवान की स्तुति की है। अब दूसरे श्लोक में देव दुन्दुभि का वर्णन करके भगवान की स्तुति करते हैं –

**देवः सर्वविदेष एव परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः।**
**सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां सम्मताः॥**
**एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः।**
**सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा॥**

www.vitragvani.com



हे नाथ! आपके समवसरण में देवताओं द्वारा बजाये जानेवाला दुन्दुभि (दिव्य नगाड़ा) का नाद मानो कि जगत् में इसी बात को प्रगटरूप से कह रहा है कि 'समस्त पदार्थों को जाननेवाले, उत्कृष्ट और त्रिलोकपति परमदेव श्री शान्तिनाथ भगवान ही हैं और समस्त तत्त्वों का वर्णन करनेवाले उनके ही वचन सज्जनों को मान्य हैं, इसके अतिरिक्त दूसरा तो कोई समस्त पदार्थों को जाननेवाला उत्कृष्ट अथवा त्रिलोकपति नहीं है तथा उसका वचन सम्मत नहीं है' – ऐसे निरंजन श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो।

हे प्रभु! सत्पुरुषों को एक आपकी ही शरण है... प्रभु तू ही सर्वज्ञ वीतराग है... देखो भगवान के समवसरण में देव दुन्दुभि बजती है, उसका शास्त्र में उल्लेख है और महा-विदेहक्षेत्र में तदनुसार हो रहा है... श्री सीमन्धर भगवान की धर्मसभा में देव दुन्दुभि / नगाड़ा बजता है। बापू! यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध है। जगत् के छोटे गज में यह बात झट नहीं बैठती, उसका कल्पना का गज तो मिथ्या पड़ता है... परन्तु यह गज मिथ्या पड़े ऐसा नहीं है।

हे भगवान! आपके दुन्दुभि के नाद में हमें तो ऐसा ही सुनाई देता है कि अरे मनुष्यों और देवों! जगत् के जीवों! तुम्हें शरणभूत हों तो ये शान्तिनाथ भगवान विराजते हैं, वे ही हैं। यहाँ आओ... और इनके ही वचन सुनो... क्योंकि तीन लोक का ज्ञान तो इन्हें ही है।

स्तुतिकार कहते हैं कि हे नाथ! इस नगाड़े का नाद आपकी सर्वज्ञता की पुकार कर रहा है। हे जीवों! तुम यहाँ आओ... यहाँ

www.vitragvani.com



आओ... इन भगवान की शरण लो, जिन्हें तीन काल-तीन लोक का ज्ञान प्रगट है – ऐसे इन भगवान के वचनों को ही सम्मत करो.... तीन लोक के नाथ और परम देवाधिदेव हों तो यह सीमन्धर भगवान हैं... शान्तिनाथ भगवान हैं। यदि तुम्हें सर्वज्ञ-वीतराग पद चाहिए हो तो यहाँ आओ... इन भगवान का सेवन करो... भगवान के वचन में कहे गये आत्मा की श्रद्धा करो!

जिस प्रकार लोक में लक्ष्मी इत्यादि की रुचिवाले लोग, राजा इत्यादि के समीप जाकर उनकी प्रशंसा करते हैं; उसी प्रकार यहाँ लोकोत्तर मार्ग में तो प्रभुता के भानवाले भक्त, प्रभु की स्तुति / प्रशंसा करते हैं। उसमें अपनी प्रभुता की भावना, प्रभुता प्रगट होने का कारण है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। तीन काल-तीन लोक को जाने – ऐसी प्रत्येक आत्मा की सामर्थ्य है। उसका भान करके जिन्हें वैसी पूर्ण शक्ति प्रगट हो गयी है, वे सर्वज्ञदेव हैं। उन्हें राग नहीं... ज्ञान की कोई अपूर्णता नहीं; उन्हें स्त्री नहीं, वस्त्र नहीं, शस्त्र नहीं, उनकी धर्मसभा में दिव्य नगाड़ा बजता है, वह कहता है कि 'जिसे आत्मा चाहिए हो... जिसे अशान्ति मिटाकर शान्ति के कुण्ड में नहाना हो... आत्मा के आनन्द सागर में क्रीड़ा करना हो, सुख में लवलीन होना हो, वे जीव यहाँ भगवान की धर्मसभा में आओ और उनकी वाणी समझो...! जिसे चैतन्य भगवान का साक्षात्कार करना हो, वे इन भगवान के समीप आओ...! आओ रे आओ! धर्मसभा में आत्मा को पहचानकर अनन्त काल की भूख मिटाना हो और स्वरूप संयम प्राप्त करना हो... दुःख मिटाना हो और

www.vitragvani.com



शान्ति चाहिए हो तो' – इस प्रकार भगवान का दुन्दुभि नाद पुकार करता है।

भगवान के समवसरण में अनेक सन्त-मुनिवर, जंघाचरणादि ऋद्धिधारक मुनियों के समूह, देव और विद्याधर आकाशमार्ग से आकर दर्शन करते हैं। जंगल में दहाड़ करनेवाले सिंह इत्यादि तिर्यञ्च भी भगवान के समीप आकर शान्त बैठ जाते हैं। पहले सर्वज्ञ भगवान कैसे होते हैं ? वह पहचानना चाहिए।

जिनके हाथ में कोई शस्त्र हो तो उन्हें किसी के प्रति वैरबुद्धि है, इसलिए वे वीतराग नहीं हैं। साथ में स्त्री हो तो वह ब्रह्मचारी भी नहीं हुआ, वह भगवान कैसे होगा ? जो हाथ में माला गिनता हो, वह किसी की स्तुति करता है, इसलिए वह भी पूर्ण नहीं, अपूर्ण है। जो स्वयं रागी और अपूर्ण हो, वह दूसरे को पूर्णता का कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् वह देव नहीं होता तथा जो वस्त्र रखता है, उसे शरीर के प्रति राग का अभाव नहीं हुआ है; इसलिए वह भी देव नहीं हो सकता।

जिसे आत्मा के पूर्णस्वरूप को पहचानकर... आत्मा के वीतरागी स्वरूप की लगनी लगाना हो, वह इन सर्वज्ञ वीतराग भगवान को पहचानो। नगाड़ा कहता है कि तुम्हें आत्मा की लगन लगाना हो तो आओ... सीमन्धरनाथ के पास ! भगवान के केवलज्ञान की प्रतीति करनेवाले को वस्तुतः अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है।

यहाँ स्तुति में आचार्यदेव ने यह बात सिद्ध की है कि आत्मा में केवलज्ञान सामर्थ्य है और तीन काल-तीन लोक को जानने की

www.vitragvani.com



सामर्थ्य प्रगट होती है – ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में है। जिसे ऐसी सामर्थ्य प्रगट हुई हो – ऐसे भगवान को देह पर वस्त्रादि तीन काल-तीन लोक में नहीं होते। अहो! ऐसी पूर्ण परमार्थदशा के साधक सन्त-मुनिवरों को भी वस्त्र नहीं होते। वस्त्रसहित तो मुनिदशा भी नहीं होती तो फिर पूर्ण दशा को प्राप्त तीन लोक के नाथ परमात्मा को तो वस्त्रादि होंगे ही कैसे? यह कोई सम्प्रदाय की बात नहीं परन्तु वस्तु के स्वरूप की बात है। घर में हजारों स्त्रियों के संग में रहता हो और कोई कहे कि मुझे स्त्री इत्यादि का किञ्चित् राग नहीं है तो यह कैसे हो सकता है? राग का अभाव हुआ हो तो राग के निमित्त भी छूट ही जाते हैं। जिस प्रकार बादाम के अन्दर का लाल छिलका निकल जाए तो ऊपर की छाल तो निकल ही गयी होती है; उसी प्रकार निर्मल आनन्दघन आत्मस्वभाव में लीन होकर जिसने अन्दर से रागरूपी लालिमा को निकाल दिया है, उसे बाह्य में वस्त्र, स्त्री आदि राग के निमित्त भी छूट ही जाते हैं।

अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप क्या है? यह जाने बिना बहुत से लोग बोलते हैं कि 'हमें अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु की शरण भव-भव में होओ' परन्तु अरे भाई! अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु कैसे होते हैं? उसके भान बिना तू शरण किसकी लेगा? पहिचान तो कर! पहिचान किये बिना तुझे सच्ची शरण नहीं मिलेगी। रागरहित भगवान को जाने बिना तेरा अपना आत्मा रागरहित कैसा है? – यह पहचान भी नहीं हो सकती और उसकी पहचान बिना आत्मा को सच्ची शरण नहीं होती। अरहन्तदेव तो व्यवहार शरण है, परमार्थ शरण तो अपना आत्मा ही है। अभी जिसे

www.vitragvani.com



अरहन्त का भी भान नहीं है, वह अपनी आत्मा की शरण तो कहाँ से लेगा ?

जिन्हें बाह्य में रागादि के साधन वर्तते हों, उसे अन्दर का राग मिटा नहीं है और जो रागी है, वह सच्चा देव नहीं है – ऐसे रागी जीव को जो देव के रूप में मानता है, उसे अरिहन्त प्रभु का आदर नहीं है। जो स्वयं राग में वर्त रहा है, वह तो स्वयं ही अशरण है तो वह दूसरे को शरणभूत कैसे होगा ? इसलिए स्तुतिकार ने कहा है कि हे नाथ ! देवाधिदेव सर्वज्ञ तो आप ही हैं, सन्तों को आपका ही शरण है।

अहो ! अभी महाविदेहक्षेत्र में तो गणधर और इन्द्र, सन्त और चक्रवर्ती, सीमन्धर प्रभु का आदर करते हैं... यहाँ तो रंक... भिखारी.... पुण्य में कमजोर और छोटे मनवाले जीव, भगवान का क्या आदर करेंगे ? यहाँ तो भगवान का विरह है, तथापि जो जीव भाव करता है, उसे भाव तो अपने में है न ! अपने भाव का लाभ तो अपने को है।

कोई श्रोताजन कहते हैं कि हे नाथ ! हमें तो आज यहीं स्वर्णपुरी बन गयी... यहीं हमारे महाविदेहक्षेत्र जैसा हो गया है !

श्रीगुरु कहते हैं कि भाई ! यह तो अभी शुरुआत है, अभी 'कलश चढ़ना तो शेष है। इसमें दो बात आ जाती हैं – एक तो श्री जिनमन्दिर के ऊपर कलश चढ़ना बाकी है वह; और तदुपरान्त अभी कोई-कोई नवीन (धर्मवृद्धि) होगी... जिसके भाग्य होंगे... वे देखेंगे... जो होता है, वह अभी देख रहें हैं। अहो ! ऐसे पवित्र पञ्च कल्याणक के पवित्र उत्सवों के लिये तो देव भी उत्कण्ठित

www.vitragvani.com



रहते हैं... इन्द्र भी भगवान की प्रार्थना करते हैं... अभी इस भरतक्षेत्र की क्या बात करें ?

साधारण प्राणी को यह बात नहीं बैठती परन्तु प्रतीति करके मानना... ज्ञानी के गज़ अलग ही होते हैं... अज्ञानी के गज से माप नहीं आता तथा अभी देश काल, हलका और विषय-कषाय में डूबे हुए जीवों की वृत्ति भी हल्की... उन्हें भगवान की कल्पना भी क्या आयेगी ? जैसे, पिता पचास हाथ का कपड़ा लेकर घर आया हो, छोटा लड़का अपने छोटे हाथ से नाप कर कहता है कि यह तो सौ हाथ का है; इसीलिए पिताजी भूल गये होंगे परन्तु पिताजी उससे कहते हैं कि भाई! तेरे हाथ का माप हमारे लेन-देन के व्यवहार में काम नहीं आता। उसी प्रकार ज्ञानी की अपूर्व बात अज्ञानी की कल्पना में नहीं आती परन्तु इससे ज्ञानी की बात खोटी नहीं है। वस्तु स्वरूप को समझे तो सब बात अन्दर में बैठ जाती है.... बापू! नासमझी से कहीं अन्त आवे ऐसा नहीं है।

अरे! अनन्त काल में यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त हुआ... फिर इसमें देव-गुरु का समागम मिला... सत् समझकर कल्याण करने का अवसर आया है। देव को भी दुर्लभ ऐसा अवसर है। इस अवसर में भक्ति करने देव भी आते हैं, आज शुक्रवार.... और अगले शुक्रवार की भगवान की प्रतिष्ठा... देखो, इस शुक्रवार को अच्छा होना है.... आत्मा की दरिद्रता टालना हो, उसे टल जाएगी। देखो तो सही! कुदरत भी क्या करती है, लोक में बोलते हैं कि कुछ 'अच्छा' हो ऐसा है, अर्थात् कि अपना हित / भला हो ऐसा है ? तो कहते हैं कि हाँ, यहाँ शुक्रवार को अच्छा होना है, दरिद्रता

www.vitragvani.com



टलना है, त्रिलोकनाथ भगवान का साक्षात्कार होना है... प्रतिष्ठा का मङ्गल मुहूर्त दूज और शुक्रवार को आया है। भगवान स्वयं साक्षात् नहीं आते परन्तु उन त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा अनुसार श्री सीमन्धर भगवान की प्रतिष्ठा होना है। उसमें ऐसा शुक्रवार होना है कि जो भगवान की यथार्थ पहचान करे, उसे भव नहीं रहते... जन्म-मरण तीन काल में नहीं रहते... भगवान को पहचान कर उनके गीत गानेवाले को तीन लोक में भव में परिभ्रमण करने की शङ्का नहीं रहती।

देखो, भगवान की प्रतिष्ठा के दिन दूज है। जैसे, चन्द्र की दूज उगी, वह बढ़कर पूर्णिमा होती ही है... उसी प्रकार इन भगवान को पहचान कर, जो इनकी अपनी आत्मा में प्रतिष्ठा करता है, अर्थात् मैं भी भगवान जैसा हूँ; इस प्रकार स्वभाव का भान करता है, उसके आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्र की दूज उदित हुई है, वह बढ़कर पूर्णिमा, अर्थात् केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहेगी (इस जिनमन्दिर के) ऊपर के भाग में श्री नेमिनाथ प्रभु की प्रतिष्ठा होगी। उसमें भी सहज ही ऐसा मेल हुआ है। देखो, गत वर्ष नेमिनाथप्रभु की कल्याणक भूमि गिरनार पर्वत पर समश्रेणी की टूंक पर ठीक फाल्गुन शुक्ल दूज थी और यहाँ इस वर्ष ठीक फाल्गुन शुक्ल दूज को ही प्रातः श्री नेमिनाथ भगवान की प्रतिष्ठा होगी... श्रमश्रेणी की टूंक से भगवान की भक्ति और आत्मा की धुन करके जब नीचे आये तब लोग उत्साह से यह कहते थे कि हम तो मानो मोक्ष में जा आये – ऐसा लगता है। वहाँ जो दिन था, उसी दिन भगवान की प्रतिष्ठा होगी... मङ्गल कार्य में सारा मेल सहज ही मिल जाता है।

www.vitragvani.com



श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा योग, जिसका महाभाग्य हो उसे मिलता है। शास्त्र में प्रतिष्ठा करानेवाले गृहस्थ का वर्णन आता है, वह गृहस्थ, श्री गुरु के समीप जाकर विनय से कहता है – हे स्वामी! मेरे पास आयी हुई यह लक्ष्मी / धनादिक, कुलटा स्त्री के समान अनित्य है, यह लक्ष्मी कब चली जाएगी, इसका भरोसा नहीं है; इसलिए मैं वीतराग भगवान की प्रतिष्ठा करके इसका सदुपयोग करना चाहता हूँ, इसलिए मुझे आज्ञा प्रदान करो। इस प्रकार आज्ञा लेकर वह जीव भगवान की प्रतिष्ठा कराता है।

तब श्रीगुरु उससे कहते हैं कि तेरा जीवन धन्य है! भगवान की प्रतिष्ठा होने पर भक्त कहता है कि अहो! यह वीतराग देव पधारे... आज हमने भगवान से भेंट की... जिसे अन्तर में पूर्णानन्द परमात्मस्वभाव का लक्ष्य हुआ हो और बाहर में निमित्तरूप साक्षात् परमात्मा को नहीं देखे, तब वह प्रतिमा में प्रभु की प्रतिष्ठा करता है। हे नाथ! आपके वियोग में आपकी प्रतिष्ठा करके आपको अपने अन्तरङ्ग में पधराते हैं।

भरतक्षेत्र के भक्त कहते हैं कि हे नाथ! इस भरतक्षेत्र में आपका विरह पड़ा है। अहो! महाविदेह क्षेत्र में विराजते चैतन्यमूर्ति प्रभु, जिनके चरण की सौ-सौ इन्द्र सेवा कर रहे हैं – ऐसे नाथ का हमें यहाँ विरह पड़ा है... ऐसा मनुष्यभव मिला परन्तु उत्तम में उत्तम साधन का वियोग पड़ा... हे प्रभु! आपके इस जाति के विरह से हमारा काल वृथा जाता है... हे सीमन्धर नाथ! आपका साक्षात् विरह है, उसे यहाँ प्रतिष्ठा करके टालूँगा... हे नाथ! जहाँ आप

www.vitragvani.com



साक्षात् विराजमान हो, वहाँ हमारा अवतार नहीं है... हम आपसे दूर पड़े हैं... तो भी हे स्वामी! मैं अपनी आत्मा में आपकी प्रतिष्ठा करके अपना (भाव) पूरा करूँगा।

अहो! जहाँ भगवान विराजते हैं, वहाँ तो धर्म अविच्छिन्नरूप से चल रहा है। गणधर, सन्त, इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि बड़े-बड़े पुरुष, भगवान के धर्म को प्रीतिपूर्वक सेवन कर रहे हैं। यहाँ जो धर्म कहा जाता है, वह तीन काल-तीन लोक में अपरिवर्तनीय है, जिसके लिये इन्द्र, गणधर और तीर्थङ्कर साक्षी हैं। यहाँ जैसा आत्मस्वभाव कहते हैं, वैसा एक बार भी समझे तो ऐसा अपूर्व ज्ञान प्रगट होता है कि बस, भव का अन्त आ जाता है।

अहो! ऐसी परम सत्य बात का आत्मकल्याण की अपूर्व बात का पामर जीव विरोध कर रहे हैं। धर्म के नाम पर हलाहल हो रहा है... जहाँ देखो वहाँ बहुत फेरफार है... धर्म का यथार्थ मार्ग भूलकर कोई कुछ तो कोई कुछ मानते हैं। जिसे जैसा रुचता है, वैसा मना रहे हैं। हे नाथ! तीर्थङ्कर के विरह में भरतक्षेत्र में अलग -अलग अभिप्राय हो गये हैं... परन्तु हे प्रभु! आपके प्रताप से हमारा उद्धार हो गया है, पार आ गया है... आपके प्रताप से सब समाधान आ गया है परन्तु जगत् को कैसे समझायें? कोई महाभाग्यवान जीव समझ कर कल्याण पा जाते हैं।

हे नाथ! आपकी दिव्यध्वनि का प्रवाह छूटता था और वहाँ तो अनेक सन्त केवलज्ञान पाते थे। उसके बदले यहाँ के प्राणियों में अल्प पुण्य और अल्प पुरुषार्थ है... तथापि... भले ही वह अल्प हो परन्तु केवलज्ञान को पहचान कर उसकी श्रद्धा तो है न! अर्थात्

www.vitragvani.com



वह पुरुषार्थ अल्प होने पर भी केवलज्ञान के साथ सन्धिवाला है। इसलिए बीच में भङ्ग पड़े बिना पूर्ण केवलज्ञान का साक्षात्कार होकर ही रहेगा। हे नाथ! पूर्णता का सन्देह नहीं है परन्तु अपूर्णता का अन्तर पड़ा है। वह अन्तर अभी तो आपकी प्रतिष्ठा करके टालते हैं।

हे सीमन्धर नाथ! महाविदेहक्षेत्र में आपकी ध्वनि का प्रवाह छूटता है, वहाँ गणधर झेलते हैं, इन्द्र सेवन करते हैं, उससे पाखण्डी के पाखण्ड टूट पड़ते हैं... जिस प्रकार सिंह जीवित हो, तब तो बकरा उसके सामने कहाँ खड़ा रह सकेगा? जीवित सिंह जिस मार्ग में भ्रमण करता है, उस मार्ग के तिनके को भी हिरण नहीं खाता। जीवित सिंह के साथ तो बकरा नहीं टिक सकता और मरे हुए सिंह के चमड़े का बनाया हुआ नगाड़ा पड़ा हो तो उस नगाड़े के पास बकरे के चमड़े का नगाड़ा नहीं रह सकता। सिंह के चमड़े का बनाया हुआ नगाड़ा हो, उस पर जहाँ डण्डी पड़ती है, वहाँ उसकी आवाज से बकरे के चमड़े से बनाया हुआ नगाड़ा फट पड़ता है।

उसी प्रकार हे नाथ! हे जिनेन्द्र! आपके प्रताप के समक्ष कोई नहीं टिक सकता... जहाँ आपकी ध्वनि का दिव्य नाद छूटता है, वहाँ अज्ञानियों का अज्ञान टूट पड़ता है... पाखण्डियों का पाखण्ड छूट जाता है... कुतर्कियों का कुतर्क नष्ट हो जाता है। प्रभु! ऐसा देव तो जगत् में तू ही है... तेरी शरण के बिना किसी उपाय से पूरा पड़े – ऐसा नहीं है। तेरे समवसरण में दिव्य दुन्दुभि यह पुकार कर रही है कि हे जीवों! अपने समस्त प्रमाद के कार्य छोड़कर यहाँ आओ और मोक्ष के साझीदार ऐसे इन भगवान का सेवन करो... इनकी दिव्यध्वनि सुनो और आत्मा की समझ करो। ●●

# कैसा होता है वीतराग का भक्त

अहो! वीतरागस्वभावी आत्मा की रुचि करके, उसके गीत गाकर अनुमोदन किया है... अब ऐसा आत्मा प्राप्त होगा ही... इससे विरुद्ध पुण्य के फल की रुचि नहीं है। एक की अस्ति में दूसरे की नास्ति है। ज्ञानस्वभावी आत्मा की रुचि की अस्ति में विकार की रुचि की नास्ति है। ज्ञान की रुचि हो और विकार की रुचि न टले – ऐसा नहीं होता। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

**ज्ञानकला जिसके घट जागी, सो जग मांही सहज वैरागी।**
**ज्ञानी मगन विषय सुख मांहीं, यह विपरीत संभवे नाहीं॥**

अहो! जिसके अन्तर में आत्मज्ञानरूपी कला प्रगट हुई है, वह जीव जगत् सहज वैरागी होता है... ज्ञानी विषयसुख में मग्न हो – ऐसी विपरीत बात कभी सम्भव नहीं होती। आत्मज्ञान हो और विषयों में से सुखबुद्धि न मिटे – ऐसा कभी भी नहीं होता।

समयसार के निर्जरा अधिकार में सम्यग्दृष्टि का वर्णन करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मिथ्यात्व की गाँठ मिटाकर, मैं आत्मा निर्मल ज्ञायक हूँ – ऐसा जिसे भान हुआ, वह

www.vitragvani.com



ज्ञानी, पाखण्डी की प्रीति करे अथवा विषयों में सुख माने – ऐसी विपरीतता कभी सम्भव नहीं है। एक का हकार / स्वीकार, वहाँ का दूसरे का नकार... स्व की रुचि, वहाँ पर के प्रति उदासीनता... ज्ञान के साथ वैराग्य सहज होता ही है।

कोई कहे कि 'आत्मा शुद्ध पूर्ण वीतराग है' – ऐसा भान हुआ है परन्तु मेरी रुचि पर से हटी नहीं है – तो यह नहीं हो सकता। पर के प्रति रुचि न हटी हो तो आत्मा की रुचि हुई ही नहीं। ज्ञानी को आत्मा के अतिरिक्त दूसरे विषयों की रुचि नहीं होती। धर्म की पहचान हो, आत्मा की प्रीति हो और दूसरे के प्रति प्रीति न मिटे – यह कैसे हो सकता है?

'मैं ज्ञानमूर्ति आत्मा पर से निराला हूँ, मेरी शान्ति मुझमें है' – ऐसा भान करके, वीतराग आनन्दघन स्वभाव के गुण गानेवाला जीव, विषयों के गीत कैसे गायेगा? – कभी नहीं गायेगा।

यहाँ सर्वज्ञ भगवान की स्तुति चल रही है, भगवान को आत्मा का भान हुआ है, तीन लोक-तीन काल का ज्ञान हुआ है; आत्मा शक्तिरूप से तो पूरा था ही और अब वह पूर्ण शक्ति प्रगट हो गयी है... ऐसे वीतराग भगवान को पहचान कर उनके गीत गानेवाला, विकार के किसी अंश की महिमा नहीं कर सकता और यदि विकार की महिमा करता है तो वह वीतराग का भक्त नहीं है, धर्मी नहीं है।

जिसे वीतरागस्वभाव की रुचि नहीं है, वही विषयों की प्रीति करता है। वीतरागस्वभाव की रुचिवाले के हृदय में अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं आता... भगवान की भक्ति करने से कहीं भगवान

www.vitragvani.com



किसी को कुछ दे नहीं देते हैं परन्तु जैसा भगवान, वैसा मैं; भगवान भी आत्मा की शक्ति में से ही हुए है – ऐसा भान करके स्वयं अपने में से ही धर्म निकालता है। यदि भगवान मुक्ति देते हों तो फिर दूसरा कोई आकर उसे ले लेगा परन्तु ऐसा नहीं है। स्वयं अपने त्रिकाल स्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति प्रगट करता है और नित्य के आश्रय से प्रगट हुई मुक्ति भी नित्य टिकी रहती है। अपने ऐसे स्वभाव का भान करे तो उसने भगवान की शरण ली – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

यह श्री शान्तिनाथ भगवान का स्तोत्र पढ़ा जा रहा है। आत्मा शान्त अविकारी स्वरूप है। शान्ति के लिए उसे किसी परपदार्थ का अवलम्बन नहीं है। आत्मा की शान्ति स्वावलम्बी है। बाह्य पदार्थों का अवलम्बन लेना पड़े, वह विकार है। भगवान को पूर्ण स्वावलम्बी शान्ति प्रगट हो गयी है। जिसे ऐसी शान्ति की रुचि हो, वह भगवान को पहचान कर उनकी भक्ति करता है।

इन्द्र आकर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर प्रभु के चरण में नम पड़ते हैं और स्तुति करते हुए कहते हैं – हे नाथ! पुण्य के फल में प्राप्त यह इन्द्रपद और देवांगनाओं इत्यादि वैभव, वह कहीं हमें आदरणीय नहीं हैं। प्रभु! आपको जो वीतरागी शान्तस्वभाव प्रगट हुआ है, उसका ही हमें आदर है। इस प्रकार जो समझता है, उसने भगवान की भक्ति की कही जाती है। पुण्य को आदरणीय माननेवाले ने भगवान की वास्तविक भक्ति नहीं की है। भगवान का आदर करनेवाला पुण्य का आदर नहीं करता है।

इन्द्र को पुण्य का ठाठ होने पर भी, वह जिन्होंने पुण्य वैभवों

www.vitragvani.com



का त्याग किया है – ऐसे सन्त के चरणों में नम्रीभूत होता है क्योंकि उनमें वीतरागता है, उसका ही वह बहुमान करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान को नमन करनेवाले जीव को पुण्य की रुचि नहीं है, किन्तु वीतरागता का ही बहुमान है। अहो! वीतरागदेव को नमन करते हुए जीव को दृष्टि में वीतरागता रुचिकर हुई है। अब वह जीव आत्मस्वभाव से विरुद्ध भावों को कैसे नमन कर सकता है?

प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से स्वयं 'शान्तिनाथ भगवान' हैं और व्यक्तिरूप से जो प्रगट परमात्मा हुए हैं – ऐसे त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर वीतरागी चैतन्य भगवान.... अहो! उनका शरण चाहिए। भक्ति में आता है कि यदि एक बार यथार्थरूप से प्रभु वन्दना हो तो कार्य की सिद्धि हो जाए।

अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धरनाथ प्रभु विराजमान हैं। हे त्रिलोकीनाथ देवादिदेव भगवान! यदि आपको एक बार पहचान कर वन्दना करे तो उसे जन्म-मरण नहीं रह सकते। किस प्रकार? – हे नाथ! जैसा आपका स्वभाव है, वैसा ही मेरा स्वभाव है, मैं शुद्ध पवित्र स्वरूप हूँ, किसी दूसरे से मुझे कुछ लेना नहीं है; मेरी अखण्ड चेतनऋद्धि मेरे पास ही है – ऐसे भानसहित भगवान को नमन करनेवाले को भव नहीं रहते।

भगवान को 'त्रिलोकनाथ, त्रिलोकपति' कहा जाता है। वहाँ भगवान जड़ के अथवा पर के स्वामी नहीं हैं, परन्तु उनके दिव्यज्ञान में तीन लोक प्रतिभासित होते हैं, इसलिए उन्हें त्रिलोकपति कहा जाता है। ऐसे भगवान को पहचानकर उनकी भक्ति करते हुए 'मैं

www.vitragvani.com



ही मेरा रक्षक हूँ' – ऐसा न कहकर, 'हे भगवान आप हमारे रक्षक हो' – ऐसे विनय के भाव की भाषा आती है।

भक्ति में जो शुभराग है, धर्मात्मा को उसका आदर नहीं होता है। अहो! जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है अथवा इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद अथवा बलदेव-वासुदेव की पदवी मिलती है, उस भाव को धर्मी जीव, शुभविकार जानता है। वीतरागता के आदर के समक्ष उस किसी भाव का आदर उन्हें नहीं होता। जिस राग से पुण्य की प्रकृति बँधती है, वह भी बन्धनभाव है। धर्मी को उस राग का आदर नहीं होने पर भी, अभी वीतरागता पूर्ण नहीं हुई है; इसलिए अपूर्णदशा में धर्मवृद्धि के शुभविकल्प से तीर्थङ्करप्रकृति आदि बँध जाती है। देवाधिदेव तीर्थङ्कर का आत्मा जब माता के गर्भ में आता है, तब चौदह ब्रह्माण्ड में प्रकाश होता है। भगवान तो महा पवित्रता के साथ पुण्य के पुञ्ज हैं। मैं अपनी वीतरागता पूर्ण करूँ, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए – ऐसी भावना में बीच में अल्पराग रहा, उससे तीर्थङ्करप्रकृति बँध गयी और त्रिलोकपूज्य तीर्थङ्कर पद हुआ।

**प्रश्न :** एक राग के कण में इतना होता है तो अधिक राग में कितना होगा?

**उत्तर :** अरे भाई! यह पद राग की भावनावाले को नहीं मिलते। जिस राग से तीर्थङ्करादि पद मिलते हैं, वह राग विषय-कषाय का नहीं, अपितु वह तो आत्मा के भानपूर्वक धर्मवृद्धि का राग था; आत्मस्वभाव की भावना थी, राग की भावना नहीं थी। जिसे राग का राग है, उसे तो अधर्म का राग है, उसे उत्कृष्ट पुण्य

www.vitragvani.com



नहीं बँधता। 'मैं निर्मल ज्ञानघन आत्मा हूँ, राग का एक अंश भी मेरा नहीं है' – ऐसे भानसहित धर्म का झुकाव है, वहाँ किञ्चित् राग रह गया, वह प्रशस्तराग है और उस राग में भी आदरबुद्धि नहीं है। वहाँ तीर्थङ्करप्रकृति आदि पुण्य बँध जाती है।

जो जीव, आत्मा के वीतरागी स्वरूप को तो नहीं समझता और राग को आदरणीय मानता है, वह आत्मस्वरूप का भक्त नहीं है, वीतरागदेव का सेवक नहीं है। जिसे आत्मा का रुचि होती है, वह वीतरागपरमात्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी के गीत नहीं गाता। उसके अन्तरङ्ग में लक्ष्मी, परिवार के गीत नहीं होते।

अपने पीछे पुत्र, मकान, लक्ष्मी इत्यादि छोड़कर चला जाए तो वहाँ बाद के लोग कहेंगे कि 'बापा हरा-भरा परिवार छोड़ गये हैं' – परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि अरे बापू! वह तो पूर्व का जो पुण्य लेकर आया था, उसे जलाकर चला गया... जीवन में आत्मा की पहचान नहीं की तो उसकी क्या गिनती? बाद में सब रहा, उसमें इसके आत्मा को क्या लाभ हुआ? वह तो आत्मा के भान बिना मरकर के कहीं चला गया। जगत् के बहुत जीव, आत्मा की दरकार बिना कौए और श्वान के बच्चों की तरह मरते हैं। अहो! अनन्त काल के अनजाने जीव... और अनजाना पन्थ... उसमें आत्मा की शान्ति का भान न करे और आत्मा की रुचि भी न करे तो जन्म-मरण कैसे मिटेगा?

यहाँ वीतराग भगवान की भक्ति का वर्णन है। यह पहिचानसहित की बात है। जिसे आत्मा का भान है और जो एकावतारी है, ऐसे इन्द्र, भगवान के समक्ष भक्ति से नाच उठते हैं।

www.vitragvani.com



तीर्थङ्कर भगवान का जन्म होने पर इन्द्र आकर भगवान की माता की स्तुति करते हुए कहते हैं – हे माता! आपने जगत् का दीपक दिया... हे जगत् दीपक की दातार माता! आपने हमें जगत् प्रकाशक दीपक दिया। हे लोक की माता! आपने हमें जगत् का नाथ दिया... आप तीर्थङ्कर भगवान की जननी हो...!

इन्द्र को स्वयं तीन ज्ञान है, आत्मा का भान है, एक भव में मोक्ष जाना है, वह स्वयं को अन्दर से निश्चित हो गया है और ये भगवान तो इसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं। जिन्हें एक भव में मोक्ष जाना है – ऐसे इन्द्र, उसी भव में मोक्ष जानेवाले भगवान के गीत पेट भरकर गाते हैं, अर्थात् गीत गाते हुए थकते नहीं हैं। इन्द्र को पुण्य की भावना नहीं। इन्द्रासन पर बैठता है, तब भी भावना करता है कि यह इन्द्र की ऋद्धि, वह कुछ हमारी नहीं है। हम तो चैतन्यस्वरूप हैं। अहा! धन्य वह घड़ी और धन्य वह पल कि जिस समय मनुष्य भव प्राप्त करके चारित्र लेकर मुनि होऊँगा और केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। उस चारित्रदशा के समक्ष इस इन्द्रपद की ऋद्धि तो तुच्छ है; चारित्र का उत्तम में उत्तम साधन जो मुनिदशा, अर्थात् केवलज्ञान को हथेली में लेने की तैयारी, उसके तो इन्द्र भी गीत गाता है और उसकी भावना करता है।

मन्दमति के छोटे गज़ के माप में यह मोटी बात नहीं बैठती तो भी तीन काल में ऐसा ही है। महाविदेह में भगवान की धर्मसभा में इस प्रकार होता है – जैसे, मकान के ऊपरी भाग का सामान और वैभव अत्यन्त नीचे खड़ा हुआ क्या देखेगा? क्या लगे? छत पर चढ़ा हुआ तो देखकर कहता है कि यहाँ बहुत वैभव भरा पड़ा

www.vitragvani.com



है परन्तु नीचे खड़ा हुआ कहता है कि मुझे तो कुछ दिखाई नहीं देता, परन्तु भाई! ऊपर चढ़कर, ऊँचे देख तो दिखेगा न! इसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा की अनन्त समृद्धि और आत्मा के केवलज्ञान की समृद्धि तथा तीर्थङ्कर के समवसरण की विभूति को देखने के लिये ऊर्ध्वगामी हो, अर्थात् अन्दर में त्रिकाली स्वभाव की श्रेणी की सीढ़ियाँ चढ़। अन्तर में जगकर वीतरागस्वभाव को देखने की पहिचान लो; बाहर में देखने से कुछ नहीं दिखेगा। अन्तर के स्वभाव में आगे जा तो अनन्त केवलज्ञान की ऋद्धि दिखेगी।

आचार्यदेव कहते हैं कि भगवान की धर्मसभा में देवों द्वारा जो दुन्दुभि / नगाड़ा बजता है, वह भगवान की प्रभुता का पुकार कर रहा है कि जगत् में सेवन योग्य देवाधिदेव हों तो वे एक यही हैं, इनके जैसा कोई उत्कृष्ट पुरुष नहीं है, इनके सिवाय कोई त्रिलोकनाथ नहीं हो सकता और त्रिलोकनाथ भगवान ने दिव्यध्वनिरूपी नगाड़े में आत्मा की प्रभुता की घोषणा की है कि सभी जीव स्वभाव से भगवान ही हैं... तुम अपने स्वभाव को समझकर धर्म प्राप्त कर लो...!

आत्मा के स्वभाव की पूर्ण हुई दशा में वर्तते अरहन्त भगवान को जो वाणी निकलती है, वह आत्महितकारी वाणी किसे मान्य है? – सज्जनों को मान्य है। हे नाथ! हे तीर्थङ्कर! जो आत्महित के अभिलाषी हैं – ऐसे गहरे पुरुषों को – आत्मार्थी पुरुषों को, आत्मा की सम्यक्श्रद्धा और निर्मल ज्ञान करे – ऐसे धर्मी पुरुषों को आपकी ही वाणी मान्य है। दुर्जनों ने अपनी कल्पना से जो

www.vitragvani.com



माना है, वह यथार्थ स्वरूप नहीं है।

अज्ञानी मनुष्य तो – 'मानो भगवान कुछ लक्ष्मी इत्यादि दे देंगे' – ऐसा मानकर 'हे दीनानाथ दया करना' – ऐसा स्तुति में बोलता है। वह वास्तव में वीतरागी देव की स्तुति नहीं करता, किन्तु विषय-कषाय की स्तुति करता है। उसने वीतराग को नहीं पहचाना है।

'हे दीनबन्धु दया करना' – ऐसा ज्ञानी की भाषा में आवे परन्तु ज्ञानी समझते हैं कि यह तो मात्र भक्ति के उपचार की भाषा है। भगवान को कोई दया का रागभाव नहीं होता और भगवान मुझे कुछ नहीं देते; मेरी प्रभुता मेरे स्वभाव में से आनेवाली है। इस प्रकार अपनी प्रभुता का भान रखकर धर्मात्मा जीव, भगवान की भक्ति करता है।

'दीन दयाल' शब्द का अर्थ समझे बिना, वास्तव में भगवान मुझे कुछ दे देंगे – ऐसा मानकर भगवान से कुछ लेने की इच्छा से जो स्तुति करता है, वह तो अपने को रङ्क, रागी और पर का गुलाम मानता है; स्वयं अपने को गाली देता है, उसे धर्म नहीं होता। जैसे, सूर्य के सामने धूल उड़ानेवाला वास्तव में स्वयं अपनी आँख में ही धूल डालता है; उसी प्रकार भगवान को रागी माननेवाला वास्तव में स्वयं अपने आत्मा को ही गाली देता है।

हे नाथ! आपको तो किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है। आप पूर्ण सर्वज्ञता को प्राप्त हुए हो और मैं अभी अपूर्ण हूँ; इसलिए आपको पहचान कर पूर्णता की भावना से आपकी भक्ति करता हूँ। पूर्णता की भावना से सौ इन्द्र और गणधरादि सन्त आपके चरण

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com



कमल की सेवा करते हैं, उनके प्रति आपको राग नहीं है और कोई निन्दा करे तो उसके प्रति द्वेष नहीं है।

मेरा पूर्ण स्वरूप अन्तर में है, वह प्रगट होने पर भी बीच में विकल्प उत्पन्न हुआ है, इसलिए हे वीतराग नाथ! बीच में आपको रखकर वन्दन करता हूँ। परमार्थ से तो भगवान की भक्ति, अर्थात् आत्मा की पहचान और बहुमान; उसमें बीच में विकल्प उत्पन्न हुआ, वह व्यवहारभक्ति है, राग है; उस राग के फल में पुण्य बँधता है और बाह्य में साक्षात् भगवान से भेंट होती है। अन्दर की परमार्थ भक्ति के फल में अपनी परमार्थ दशा प्रगट होती है। आत्मा शुद्ध है, उसकी श्रद्धा और स्थिरतारूपी भक्ति जम जाए तो अन्तर के भगवान से भेंट / साक्षात्कार होती है।

शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ! आपके ही वचन सज्जनों को मान्य हैं क्योंकि तत्त्व का निर्णय करने में भगवान के वचन काम करते हैं, वैसे अन्य किसी के वचन उपयोगी नहीं होते; इसलिए सज्जन आपकी वाणी के अतिरिक्त किसी का आदर नहीं करते – ऐसे शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो। रक्षा का अर्थ क्या है? – यही कि अपने आत्मस्वरूप की जितनी दशा को मैं प्राप्त हुआ हूँ, उससे नीचे नहीं गिरुँ और आगे बढ़कर पूर्ण हो जाऊँ – इसका नाम आत्मा का रक्षण है। स्वयं अपने भाव से वैसा रक्षण करता है, वहाँ विनय से कहता है कि श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें।

पहले श्लोक में तीन छत्र का वर्णन करके भगवान की स्तुति की। दूसरे श्लोक में देव दुन्दुभि का वर्णन करके भगवान की

www.vitragvani.com



स्तुति की। अब, तीसरे श्लोक में सिंहासन का वर्णन करके भगवान की स्तुति करते हैं –

**दिव्यस्त्रीमुखपंकजैकमुकरप्रोल्लासिनानामणि-**
**स्फारीभूतविचित्ररश्मिरचितानम्रामरेन्द्रायुधैः।**
**यच्चित्रीकृतवातवर्त्मनि लसत्सिंहासने यः स्थितः**
**सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथ सदा॥**

देवांगनाओं के मुखकमलरूपी एक दर्पण में दैदीप्यमान अनेक प्रकार के रत्नों की चारों ओर फैलाये हुए किरणों द्वारा रचित तथा नम्रीभूत जो इन्द्रधनुष, उससे चित्र-विचित्र हुए आकाश में दिव्य सिंहासन पर जो विराजमान हैं – ऐसे निरंजन जिनेन्द्र देव श्री शान्तिनाथ भगवान सदा हमारी रक्षा करें।

देखो, आचार्यदेव की भक्ति! त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर भगवान धर्मसभा में विराजते हैं। इन्द्र-इन्द्राणी उन्हें नमस्कार करते हैं, उन देवांगनाओं के मुख को दर्पण की उपमा दी है। उस दर्पण में रत्नों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और उनके प्रकाश की झाँईं से आकाश में अलग-अलग प्रकार के रंग होते हैं, इसलिए इन्द्रधनुष जैसा लगता है – ऐसे आकाश के बीच में दिव्य सिंहासन पर हे नाथ! आप विराजमान हैं। छत्र, दुन्दुभि, इन्द्राणी अथवा सिंहासन इत्यादि देखकर हमें तो एक भगवान ही याद आते हैं... एक भगवान की ही मुख्यता भासित होती है।

हे नाथ! आपके पुण्य की अलौकिक ऋद्धि में जहाँ नजर करता हूँ, वहाँ सार में सार ऐसे एक आपको ही देखता हूँ। समवसरण में भगवान सिंहासन से भी चार अंगुल ऊँचे आकाश में निरालम्बीरूप

www.vitragvani.com



से विराजते हैं। उन निरालम्बी भगवान को देखने से सार में सार निरालम्बी भगवान आत्मा का लक्ष्य होता है। जिस प्रकार भगवान की देह निरालम्बी है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी निरालम्बी है। जिस प्रकार समवसरण में संयोग को न देखकर भगवान को ही मुख्य देखता हूँ; उसी प्रकार यहाँ भी संयोग को न देखकर अन्दर में विराजमान चैतन्य भगवान को ही देखता हूँ। यह देह-मन-वाणी इत्यादि चित्र-विचित्र पदार्थ हैं, उन संयोग-रहित अकेला भगवान आत्मा अन्दर विराजता है, वहीं मेरी दृष्टि पड़ी है – ऐसा आत्मा सार में सार है। हे नाथ! में ऐसे पूर्ण वीतराग स्वभाव का दास हूँ, इसके अतिरिक्त अपूर्णता का दास नहीं हूँ। इस प्रकार पहले पूर्ण स्वभाव को श्रद्धा में – रुचि में लेना धर्म है।

धर्म अर्थात् क्या? कि '**धारयतीति धर्मः**' अर्थात् जो धार रखे, वह धर्म है। अखण्ड शुद्ध आत्मा को सम्यक्श्रद्धा में धार रखना और अवगुण में नहीं पड़ने देना, इसका नाम धर्म है। पहले विपरीतश्रद्धा में विषय-कषाय इत्यादि का धारण था, वह अधर्म था और उससे जीव संसार में पड़ता था। उसके बदले अब चैतन्यमूर्ति वीतरागी आत्मस्वभाव को श्रद्धा में धारण किया और आत्मा को संसार में पड़ने से बचाया, वह धर्म है। पहले ऐसी आत्मा की श्रद्धा करना, वह भगवान की सच्ची भक्ति है, इसके अतिरिक्त भगवान की भक्ति से शरीरादि सामग्री की रक्षा होना भगवान से माँगे तो वह अज्ञानी है, वह भगवान का भक्त नहीं है।

अहो! मेरा आत्मा, भगवान के समान सर्वज्ञ-वीतरागी परिपूर्ण है – ऐसा समझकर जो भगवान की भक्ति करता है, वह जीव

www.vitragvani.com



जगत् की किस वस्तु की स्पृहा रखेगा ? जगत् की किस वस्तु का आदर करेगा ? अभी तो कोई यह भी मानता है कि भगवान के पास भक्तामर स्तोत्र बोलेंगे तो अन्न-वस्त्र बिना नहीं रहेंगे... अरे भाई ! क्या भगवान के पास यह ऐसी आशा होती है ?

ज्ञानी तो भावना करता है कि हे नाथ ! हमारी रक्षा करो, अर्थात् हमारे आत्मा में श्रद्धा ज्ञान और वीतरागता प्रगट हो... । वीतरागी परिणाम में भगवान निमित्त है; इसीलिए घी के घड़े की तरह भगवान हमारी वीतरागता की रक्षा करो – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है परन्तु वस्तुतः भगवान से कुछ लिया नहीं जाता। आत्मा का अपना स्वभाव कहाँ अपूर्ण है कि वह किसी के पास रक्षण माँगे। धर्मसभा में त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जब धर्म की प्ररूपणा की, तब जो जीव, स्वभाव को समझे उन्होंने धर्म प्राप्त किया; इसलिए भगवान उनके धर्म में निमित्त हुए। वहाँ उन जीवों को भगवान के प्रति भक्ति उछलती है। भगवान के उपदेश के समय उसे झेलकर धर्म प्राप्त करनेवाले जीव न हों – ऐसा नहीं होता।

महावीर भगवान को वैशाख शुक्ल दशमी को केवलज्ञान हुआ परन्तु छियासठ दिन तक वाणी नहीं खिरी। इन्द्र ने विचार किया कि यह क्या ? भगवान को केवलज्ञान हुआ... शरीर के रजकण स्फटिक के समान उज्ज्वल हो गये... देह अधर आकाश में पाँच सौ धनुष ऊँचा पहुँच गया, समवसरण की रचना हुई... बारह सभा भरी हुई है... फिर भी भगवान की वाणी क्यों नहीं छूट रही है ? उसने उपयोग लगाकर ज्ञान में देखा कि भगवान की उत्कृष्ट वाणी झेल सके – ऐसे गणधर पद के योग्य पुरुष की

www.vitragvani.com



सभा में अनुपस्थिति है और ऐसे समर्थ श्री इन्द्रभूति (गौतम) हैं। तत्पश्चात् इन्द्र उनके पास जाकर भगवान के साथ वाद-विवाद करने के बहाने उन्हें ले आता है... मानस्तम्भ के पास आते ही इन्द्रभूति का मान गलित हो जाता है... भगवान की दिव्यध्वनि की धारा छूटती है और इन्द्रभूति, गणधर होते हैं। पहले तो वे प्रथम गुणस्थान में थे और अब छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में विचरण करने लगे।

देखो, यहाँ वाणी की योग्यता और सामने गणधर पद की योग्यता – ऐसा मेल सहज हो जाता है। तीर्थङ्कर भगवान की देशना छूटे, वहाँ उसे झेलकर धर्म की वृद्धि करनेवाले जीव-गणधर इत्यादि तैयार होते ही हैं। भगवान की वाणी निकले और सभा में धर्म की वृद्धि न हो – ऐसा कभी नहीं हो सकता। सामने गणधर नहीं थे तो यहाँ भगवान की वाणी भी नहीं निकली – देखो, मेल। वाणी झेलनेवाला न हो और भगवान की वाणी यूँ ही निकल जाए – ऐसा कभी नहीं होता है।

यह जो बात कही जा रही है, वह तीनों काल सत्य है। पूर्व में साधकदशा में धर्मवृद्धि के भाव से वाणी का बन्ध हुआ, वह वाणी दूसरे को धर्म प्राप्त करानेवाली है... तीर्थङ्कर भगवान की वाणी धर्म प्राप्त करने का उत्कृष्ट निमित्त है... वह वाणी छूटे और धर्म का लाभ प्राप्त करनेवाले जीव न हों – ऐसा कभी नहीं होता।

जिस प्रकार जहाँ चक्रवर्ती होता है, वहाँ चौदह रत्न भी जगत् में होते हैं; इसी प्रकार जहाँ तीर्थङ्कर होते हैं, वहाँ गणधर इत्यादि की योग्यतावाले जीव भी होते हैं। वीतराग की उत्कृष्ट वाणी और

www.vitragvani.com



जीवों की योग्यता का ऐसा मेल खाते हुए मोक्ष के फल पकते हैं। जैसे कल्पवृक्ष पके और उनका फल लेनेवाला न हो – ऐसा कभी नहीं होता; उसी प्रकार जहाँ तीर्थङ्कर भगवान हो, वहाँ उनका उपदेश झेलकर मोक्ष पानेवाले जीव न हों – ऐसा नहीं होता। ऐसे श्री सीमन्धर तीर्थङ्कर भगवान अभी महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं और वहाँ अभी बहुत से जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं। उन सीमन्धर भगवान की अपने यहाँ स्थापना होनेवाली है। ●●

## मुनिदशा की अनादिकालीन सत्य वस्तुस्थिति

मुनिदशा होने पर सहज निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं, किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है। कोई कहे कि 'वस्त्र होवे तो क्या आपत्ति है क्योंकि वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को रोकता है?'

इसका समाधान यह है कि वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को नहीं रोकता, यह बात तो सत्य है परन्तु वस्त्र के ग्रहण की बुद्धि ही मुनिपने को रोकनेवाली है। मुनियों को अन्तर की रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज हो गयी है कि उन्हें वस्त्र के ग्रहण का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता।

*( - पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ 144 )*

**श्री सीमन्धरनाथ की प्रतिष्ठा के अवसर पर**
**पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीमुख से प्रवाहित**

# जिन-भक्ति सरिता

यह वीतराग भगवान की स्तुति चल रही है। जो वीतराग स्वरूप के गीत गाता है, उसके अन्तर में राग का, पुण्य का उत्साह नहीं होता। जो जीव, वीतरागता के गीत गाता है, वह संसार के भाव का उत्साह कैसे करेगा? एक की रुचि होने पर दूसरे की रुचि मिट जाती है। असंख्य देवों के स्वामी शकेन्द्र और ईशानेन्द्र भी भगवान का जन्म होने पर विशाल जन्मोत्सव मनाने आते हैं और जन्माभिषेक करके भक्ति से ताण्डव नृत्य करते हैं। हे तीर्थङ्कर नाथ! आपकी भक्ति की क्या बात करें? साधारण जीवों के हृदय में आपकी भक्ति की बात बैठना कठिन पड़े – ऐसी है।

तीर्थङ्कर का पुण्य अलौकिक होता है... जिससे तीर्थङ्कर पद, चक्रवर्ती पद, इन्द्र पद, बलदेव-वासुदेव पद प्राप्त हों – ऐसा पुण्य आत्मज्ञानी के अतिरिक्त दूसरे को नहीं बँधता। भगवान को पूर्व में आत्मा का भान था... वीतरागस्वरूप की पहचान थी... वह पहचान स्वयं पुण्यबन्ध का कारण नहीं है परन्तु राग का भाग शेष

www.vitragvani.com



था, उस राग से पुण्य बँधा है। जिस प्रकार प्रिय पुत्र को देखते ही माता का हृदय प्रेम से नाच उठता है; उसी प्रकार भगवान को देखते ही इन्द्र भी भक्ति से नाच उठते हैं।

जिसे आत्मा के वीतरागस्वरूप की प्रीति हुई है, उसे त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर वीतराग परमात्मा को देखते ही अन्दर में भक्ति का उत्साह चढ़ता है। इन्द्र-इन्द्राणी जैसे एकावतारी धर्मात्मा भी तीर्थङ्कर का जन्म होने पर भक्ति करने आते हैं। इन्द्राणी, उस बालक को (बाल-तीर्थङ्कर को) लेकर इन्द्र के हाथ में देती है। इन्द्र एक हजार नेत्र बनाकर भगवान को निरखता है तो भी उसे तृप्ति नहीं होती। देखो, इन्द्र स्वयं समकिती है और एक भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाला है परन्तु जहाँ भगवान को हाथ में लेता है, वहाँ अन्दर से उत्साह चढ़ जाता है। वहाँ वीतरागता के बहुमान के जोर से भव का भुक्का उड़ जाता है।

तीन खण्ड के धनी श्रीकृष्ण, उनकी माता देवकी; उन्हें बालवय से ही कृष्ण का वियोग हुआ... परन्तु जब बहुत काल के बाद उन्होंने कृष्ण को देखा, तब उन्हें देखते ही अहो, मेरा कृष्ण! इस प्रकार पुत्र प्रेम से उनका हृदय पुलकित हो गया और स्तन में से दूध की धारा बह निकली। यद्यपि पुत्र को तो अब कहीं दूध की आवश्यकता नहीं है परन्तु माता के स्तन में से दूध प्रवाहित हुए बिना नहीं रहता... इसी प्रकार आत्मा, वीतरागस्वरूप चैतन्यमूर्ति आनन्दघन है, जिसे उसकी रुचि हो, उस जीव को बाह्य में भी वीतरागता के निमित्तभूत अरहन्त परमात्मा को देखते ही अहो, मेरे भगवान....! इस प्रकार भक्ति उछले बिना नहीं रहती।

www.vitragvani.com



जगत् गुरु तीर्थङ्कर को देखते ही अन्दर से भक्ति का आह्लाद जागृत होता है। यद्यपि भगवान तो वीतराग हैं, उन्हें कहीं भक्ति की आवश्यकता नहीं है परन्तु जिसे वीतरागता की सच्ची प्रीति है, उसे भक्ति का भाव उल्लसित हुए बिना नहीं रहेगा।

अभी भरतक्षेत्र में साक्षात् भगवान का तो विरह पड़ा है... साक्षात् वीतराग प्रभु के विरह में उनकी वीतराग मुद्रावाली प्रतिमा को देखते ही भगवान का स्मरण करके भक्ति करता है और प्रतिमा में भी 'अहो! यह भगवान ही है' – इस प्रकार अपने भाव का निक्षेप करता है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि –

**कहत बनारसी अलप भव थिति जाकी**
**सोइ जिन प्रतिमा प्रमानै जिन सारखी॥**

धर्मी को अन्तर में वीतरागी आत्मस्वरूप भासित हुआ है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई, इसलिए वीतराग प्रभु का बहुमान करता है। आत्मा के वीतरागपने की भावना के उल्लासपूर्वक वीतराग भगवान की स्थापना करता है और उनकी भक्ति करता है।

यहाँ पद्मनन्दि आचार्यदेव श्री शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हैं। उसमें पाँचवें श्लोक में कहते हैं कि –

**खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके शुभ्राभ्रलेशावथ**
**सूर्याचंद्रमसाविति प्रगुणितौ लोकाक्षियुग्मैः सुरैः।**
**तर्क्येते हि यदग्रतोतिविशदं तद्यस्य भामण्डलं**
**सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा॥**

हे नाथ! आपके भामण्डल की दिव्यता के समक्ष यह सूर्य

www.vitragvani.com



और चन्द्र भी फीके लगते हैं... मानो कि अग्नि की दो चिंगारियाँ हों अथवा तो सफेद बादल के टुकड़ें हों।

देखो, आचार्यदेव जहाँ-तहाँ भगवान की महिमा ही देख रहे हैं।

**हरते-फिरते प्रगट हरि देखूँ रे...**
**मेरा जीवन सफल तब लेखूँ रे...**

जिन्होंने समस्त पाप का अभाव करके आत्मा का आनन्द प्रगट किया है - ऐसे त्रिलोकनाथ भगवान को यहाँ 'हरि' रूप से सम्बोधित करके कहते हैं कि हमारे पाप का नाश करनेवाले, हे हरि! आकाश में उड़ते यह सूर्य और चन्द्र तो बादल के टुकड़े जैसे लगते हैं। जब मेरुपर्वत पर आपका जन्माभिषेक हुआ और इन्द्र ने आपकी भक्ति की, तब आपकी भक्ति करते हुए उसके हाथ फैलकर बादल के साथ अड़ने से बादल के टुकड़े हो गये; उसमें से दो टुकड़े – यह सूर्य और चन्द्र के रूप में अभी आकाश में उड़ते हैं। देखो, यह अलङ्कार और भक्ति। आचार्यदेव जहाँ-तहाँ भगवान को और भगवान के कल्याणक को तथा इन्द्र की भक्ति को ही देखते हैं। हे नाथ! सूर्य-चन्द्र को देखते हुए भी आपके कल्याणक ही याद आते हैं।

हे नाथ! जिस प्रकार इन्द्र भक्ति करते थे, तब आकाश में घनघोर बादल के टुकड़े हो गये; उसी प्रकार आपकी वीतरागता की भक्ति से हमारे आत्मा पर जो कर्म के बादल थे, वे फट गये हैं। वाह रे वाह! पद्मनन्दि आचार्यदेव की भक्ति।

यह पद्मनन्दि आचार्यदेव महान दिगम्बर सन्त थे... जङ्गल में

www.vitragvani.com



विचरते... आत्मा के आनन्द की रमणता में झूलते थे... महान् वीतरागी सन्त थे... उन्होंने विकल्प उत्पन्न होने पर वीतराग भगवान की यह स्तुति की है। उसमें अलङ्कारपूर्वक कहते हैं कि हे नाथ! आकाश में यह बादल के टुकड़े नहीं, किन्तु आपकी स्तुति करते हुए कर्म के टुकड़े होते हैं। कर्मरूपी बादल फट कर उसके टुकड़े उड़-उड़कर वहाँ जाते हैं। आकाश में बादल देखने पर अन्दर में ऐसा लगता है कि हे नाथ! मैं तो आपकी भक्ति से निर्मल हो गया हूँ और मेरे कर्म के टुकड़े उड़ कर वहाँ चिपट गये हैं। देखो, वीतरागता का बहुमान!

हे नाथ! आकाश में दिखनेवाले सूर्य-चन्द्र भी आपके भामण्डल के समक्ष अग्नि के अंगार जैसे लगते हैं। जब आपने केवलज्ञान ज्योति प्रगट करने के लिए उग्र ध्यान अग्नि प्रगटाकर कर्मों को जला दिया, तब उसकी चिंगारियाँ उड़ कर अभी सूर्य -चन्द्र के रूप में आकाश में फिरती है। हे नाथ! आपकी ध्यानाग्नि से हुए कर्म के रज-कण, अर्थात् सूर्य और चन्द्र भी जगत् में प्रकाश करते हैं तो आपके दिव्य केवलज्ञान प्रकाश की तो क्या बात करना! इस प्रकार भगवान के केवलज्ञान की स्तुति कर-करके आचार्यदेव ने अपने केवलज्ञान की भावना का घोलन किया है। उन्हें अन्दर पूर्ण स्वभाव का बहुमान जागृत हुआ है वही वीतराग के गीत गवाता है।

त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर प्रभु को देखकर इन्द्र भक्ति से विचार करता है कि हे नाथ! आपकी और मेरी सत्ता पृथक्, किन्तु स्वभाव समान है; आपको वह स्वभाव पूर्ण प्रगट हुआ है और मैं अभी

www.vitragvani.com



अपूर्ण हूँ... पर्याय में अन्तर पड़ा है... परन्तु हे नाथ! स्वभाव के जोर से मैं उस अन्तर को मिटा दूँगा। जो यह जानता है, उसे भगवान के प्रति भक्ति उछलती है। जो ऐसा नहीं जानता, उसे यथार्थ भक्ति कहाँ से उल्लसित होगी?

जिज्ञासु को विषय-कषायरूप पापभावों के अभाव और वीतरागता की भावना के पोषण के लिए वीतराग भगवान की भक्ति का भाव आता है। राग होने पर भी जिसे वीतराग भगवान की भक्ति नहीं रुचती, वह तीव्र मूढ़ है। अहो! जिनके आत्मा की तो बात ही क्या करना, परन्तु जिनके दिव्य शरीर के तेज में हजारों सूर्य का तेज भी ढंक जाए – ऐसे तीर्थङ्कर भगवान के गीत इन्द्र और गणधर गायें तो भी पूरा नहीं पड़ता!

अभी महाविदेहक्षेत्र में दैवीय समवसरण में गन्धकूटी पर सिंहासन से भी चार अंगुल अधर श्री सीमन्धर भगवान विराज रहे हैं। वहाँ कल्पवृक्ष के फूलों से और मणिरत्नों के दीपक से भगवान की पूजा करते हुए समकीति चक्रवर्ती कहता है कि हे जिनेन्द्र! आपकी वीतरागता की भक्ति करने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है.... हे नाथ! मुझे पूर्ण वीतरागता का भान है और वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है; जब अन्दर से पूर्ण वीतरागता प्रगट करूँगा, तब आपकी भक्ति पूर्ण होगी। जहाँ रागरहित आत्मा की श्रद्धा होती है, वहाँ स्थूल रागभावों का तो अभाव हो ही जाता है; इसलिए कुदेवादिक का राग मिट कर वीतराग भगवान के प्रति भक्ति जागृत हुए बिना नहीं रहती।

कोई जीव संसार के लिए तो चौबीसों घण्टे पाप के परिणामों

www.vitragvani.com



का सेवन करता है और भगवान की भक्ति का प्रसङ्ग आने पर शिथिल होता है तो वह पापी है, पाखण्डी है, अज्ञानी है; आचार्यदेव उसे जैन सम्प्रदाय में नहीं गिनते। अपने को जैन कहलावे और जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उल्लसित न हो तो वह जैन कैसा? और साथ-साथ यह भी समझना कि धर्मी जीव उस भक्ति के राग को धर्म नहीं मानते; भगवान की भक्ति के समय भी धर्मी की दृष्टि शुद्ध स्वभाव पर पड़ी है। शुद्ध दृष्टिपूर्वक जितना राग का अभाव हुआ है, उतना लाभ है; जो राग रहा है, वह धर्म नहीं है।

अज्ञानी तो (यह बात सुनकर) भड़क उठता है कि 'हाय! हाय! भगवान की भक्ति से मुक्ति नहीं होती? – भगवान की भक्ति से धर्म नहीं होता?'

हाँ भाई! सत्य तो तीनों काल ऐसा ही है। भक्ति के राग से तो पुण्यबन्धन ही होता है और 'मैं शुद्ध ज्ञान हूँ' ऐसा जो शुद्धस्वभाव का अभिप्राय रहता है, वह धर्म और मुक्ति का कारण है, वही भगवान की निश्चय भक्ति है। जब-जब भगवान की भक्ति का काल आवे, तब यह बात दृष्टि में रखना चाहिए।

अभी तो भगवान पधारते हैं, इसलिए आठों दिन भगवान को भाना है। कोई पूछता है कि भगवान को भाने से क्या होना है? तो कहते हैं कि भगवान को भाने से भगवान होना है। जिसे जिसका रंग लगता है, उसका वहाँ झुकाव होता है। सोते-जागते जिसे सर्वज्ञ भगवान का रंग लगा और मेरा आत्मा, भगवान जैसा है – ऐसा भान हुआ, उसका झुकाव आत्मसन्मुख होकर वह भगवान हुए बिना नहीं रहेगा। अहो! अन्तरङ्ग में विचारो कि मैं कहाँ खड़ा

www.vitragvani.com



हूँ ? जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर भी कभी भगवान की भक्ति का रंग नहीं चढ़ा... रंग नहीं लगा... तो वह अन्दर के भगवान की तरफ तो झुकेगा ही कैसे ?

भगवान की भक्ति की बात आवे, वहाँ कोई यह कहे कि 'भक्ति तो राग है और उससे पुण्य-बन्धन हो जाता है; इसलिए हमें भक्ति का उल्लास नहीं आता।' – तो उससे कहते हैं कि हे भाई! यदि तू वीतरागरूप रह सकता हो तो तेरी बात सत्य है परन्तु अभी स्त्री, लक्ष्मी, शरीरादि के अशुभ पाप-राग में तो तुझे उल्लास आता है और भगवान की भक्ति के काल में उल्लास नहीं आता और वहाँ पुण्य-बन्धन कहकर उस बात को उड़ा देता है तो तू शुष्क स्वच्छन्दी है। श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि में कहते हैं कि –

**उपादान का नाम ले वे जो तजे निमित्त।**
**पावे नहीं सिद्धत्व को रहें भ्रान्ति में स्थित॥ 136॥**

उपादान का जो शुद्ध भाव है, वह तो प्रगट हुआ नहीं और निमित्तरूप वीतराग भगवान की भक्ति को भी छोड़ देता है तो वह तो अकेले पाप में पड़कर संसार में ही परिभ्रमण करेगा। निमित्त का राग आदरणीय नहीं है – यह बात सत्य है परन्तु इस कथन को पकड़कर जो वीतरागी निमित्तों की भक्ति छोड़कर संसार के निमित्तों के राग का पोषण करता है, उसे तो पुण्य-पाप का भी विवेक नहीं है, निमित्त का भी विवेक नहीं है तो उसे उपादान में धर्म नहीं होता।

कोई भी पर के लिये तो कुछ भी नहीं करता है; मात्र अपने भाव का पोषण करता है। स्त्री के शरीर पर गहने इत्यादि

www.vitragvani.com



देखकर अपना पापभाव पोषित होता है, इसलिए उस राग के लिए गहने-वस्त्र इत्यादि लाकर स्त्री को देता है। इसी प्रकार वीतरागी भगवान को देखकर धर्मी को अपनी वीतरागभावना पोषित होती है, इसलिए वहाँ उसे भक्ति आये बिना नहीं रहती। वह कोई भगवान के लिए भक्ति नहीं करता परन्तु अपने को उस जाति का शुभराग आता है, इसलिए भक्ति करता है। जिस प्रकार स्त्री के रागी को स्त्री मिलने पर उत्साह आता है; इसी प्रकार वीतरागता के प्रेमी को वीतरागी भगवान का साक्षात्कार होने पर उत्साह आता है।

भगवान का भक्त भगवान के समीप जाकर कहता है कि हे नाथ! हे प्रभु! आपकी वीतरागता के प्रेम से आपसे मिलने आया हूँ... प्रभु! मेरे अन्तर में आपके प्रति प्रेम जागृत हुआ है, उसे दूसरे क्या जानेंगे? नाथ! आप जानते हो और मैं जानता हूँ। हे नाथ! आपकी वीतराग मुद्रा को निहारते-निहारते अन्दर से ऐसा आह्लाद आ जाता है कि मानो अभी अन्दर से प्रभुता प्रगटी... अथवा... प्रगटेगी। हे नाथ! आपको देखते हुए मैं अपनी प्रभुता को ही देखता हूँ... अपने ज्ञान को ही देखता हूँ।

देखो, भक्ति का काल आया है... ऐसे महान दिवस बहुत कम आते हैं। संसार की प्रीति घटाकर वीतराग भगवान की पहचान करके पात्र जीव उनके गीत गाते हैं। उसमें पात्र जीवों की रुचि में तो भगवान के समान अपने शुद्ध आत्मस्वभाव ही पोषाता है।

अब, श्री तीर्थङ्कर भगवान के समवसरण में जो अशोकवृक्ष

www.vitragvani.com



होता है, उसमें अलङ्कार करके भगवान की स्तुति करते हुए छठवें श्लोक में आचार्यदेव कहते हैं कि –

**यस्याशोकतरुविनिद्रसुमनोगुच्छाप्रसक्तैः क्वणद्**
**भृंगैर्भक्तियुतः प्रभोरहरहर्गायन्निवास्ते यशः।**
**शुभ्रं साभिनयो मरुच्चललतापर्यंतपाणिश्रिया**
**सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा॥**

हे नाथ! यह अशोकवृक्ष भी आपकी भक्ति ही कर रहा है। किस प्रकार? – इसके खिले हुए पुष्पों पर बैठे हुए भ्रमरों की जो गुञ्जार है, वह ऐसी लगती है कि मानो अशोकवृक्ष आपके निर्मल यश का गुणगान ही कर रहा है... और पवन से कँपती उसकी डालियों का अग्र भाग देखकर ऐसा लगता है कि वह अपने हाथ फैलाकर आपके समक्ष भक्ति से नृत्य कर रहा है।

देखो, आचार्यदेव को स्वयं को भगवान के प्रति भक्ति है, इसलिए अशोकवृक्ष को भी भगवान की भक्ति करते हुए देखते हैं क्योंकि भाव तो अपना है न! वाह रे वाह, मुनिराज तुम्हारी भक्ति! आपकी भक्ति ने तो अशोकवृक्ष को भी भाषा देकर बोलता हुआ कर दिया है! हे जिनेन्द्र! मनरहित यह अशोकवृक्ष भी जहाँ आपकी स्तुति कर रहा है तो फिर मनवाले ऐसे मुनेन्द्र और देवेन्द्र आपकी स्तुति करें – इसमें क्या आश्चर्य है! – ऐसा कहकर, जिन्हें भगवान के प्रति भक्ति नहीं जगती, उन पर आचार्यदेव ने कटाक्ष का प्रहार किया है।

हे नाथ! आपके ज्ञानादि गुणों की सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमरों को भी गुञ्जार द्वारा आपकी स्तुति करने का मन हुआ तो

www.vitragvani.com



फिर दूसरे किसको आपके प्रति भक्ति नहीं जागेगी ? इन्द्र इत्यादि आपके गुणों की स्तुति करें, इसमें क्या आश्चर्य ? अन्दर एकदम निर्मानतापूर्वक आचार्यदेव स्तुति करते हैं। उन्हें स्तुति में भी वीतरागता का ही घोलन चलता है, अल्प राग है, उसका स्वामीपना नहीं है। स्वरूप की वीतरागी अवस्था प्रगटी, उसमें किसका अभिमान रहेगा ? अभिमान तो मैल है; निर्मल अवस्था प्रगट हुई, उसमें मैल नहीं होता है।

यहाँ तो आचार्यदेव ने स्तुति की है। इन्द्र इत्यादि भी भगवान के समीप ऐसी भक्ति करते हैं कि अभी के साधारण प्राणियों से तो झेली नहीं जाए, उन्हें तो ऐसा लगता है कि अरे! यह क्या ? परन्तु भाई! भक्ति क्या है, इसका तुझे भान नहीं है।

कोई कहेगा कि अरे आचार्य ने कैसी स्तुति की ? क्या भ्रमर भी कभी भक्ति करते होंगे ? ऐसी स्तुति तो हम साधारण लोग भी नहीं करते। तो यहाँ उनसे कहते हैं कि अरे जा... जा नमाला आचार्य की भक्ति की तुझे क्या खबर पड़ेगी। तुझमें अक्ल ही कितनी है। आचार्यदेव ने तो समझ कर गीत गाये हैं। जैसे, तीन लोक के नाथ परमात्मा के गीत गाये हैं, वैसे ही तीन लोक के नाथ स्वयं होनेवाले हैं। अरे पाखण्डी! तुझे धर्मात्मा के हृदय का क्या पता पड़ेगा ? आत्मतत्त्व की महिमा तुझे भासित नहीं हुई, इसलिए जिन्हें आत्मतत्त्व का पूर्ण सामर्थ्य प्रगट हो गया है – ऐसे परमात्मा की महिमा की भी तुझे खबर नहीं है।

यहाँ भरतक्षेत्र में भी ढाई हजार वर्ष पहले महावीर परमात्मा विराजमान थे। तब आकाश में से इन्द्र उनकी स्तुति करने के लिए

www.vitragvani.com



उतरते थे। जिसे इस बात की श्रद्धा नहीं होती, वह नास्तिक है... उसने सर्वज्ञदेव की महिमा नहीं जानी है तथा आत्मा के धर्म की महिमा का भी उसे भान नहीं है। जो भगवान की भक्ति का भी निषेध करता है, उसके तो दुर्गति में जाने के लक्षण हैं। शास्त्रों में भगवान की भक्ति का जो लक्षण आता है, वह उसके हृदय में कैसे समायेगा? अहो! यह तो नग्न मुनि... जङ्गलवासी... पञ्च महाव्रत के पालक और आत्मभाव में झूलनेवाले महा वीतरागी सन्त श्रीपद्मनन्दि आचार्य वीतराग की स्तुति का वर्णन करते हैं। आत्मा की महिमा जाने बिना अज्ञानी को वीतराग की सच्ची महिमा कहाँ से आयेगी?

जिनके जन्म से चौदह ब्रह्माण्ड में आनन्द की खलबलाहट फैल जाती है... जिनके जन्म से सम्पूर्ण लोक में उजाला होता है और इन्द्र भक्ति से नृत्य करते हैं – ऐसे तीर्थङ्कर प्रभु के कल्याणक अभी मनाये जा रहे हैं। यहाँ तो सीमन्धर प्रभु की स्थापना है। अभी सीमन्धर प्रभु महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजते हैं और यह सब जो कहा जा रहा है, वह महाविदेहक्षेत्र में इन्द्र कर रहे हैं। यह कल्पना नहीं... वीतरागदेव के यह सच्चे-सच्चे गीत गाये जा रहे हैं।

जिसने मिट्टी और घास-फूस के झोंपड़े ही देखें हों, उससे कहे कि अमुक जगह तो हाथी दाँत के विशाल महल होते हैं, तो उसे यह बात गले कैसे उतरेगी? उसी प्रकार वीतरागदेव के यह गीत अज्ञानी के गले उतरना कठिन पड़ता है क्योंकि उसने कभी देखा नहीं-जाना नहीं। सीमन्धर भगवान अभी समवसरण में विराजते हैं, वहाँ अनेक सन्त केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इन्द्र और देव स्तुति

www.vitragvani.com



करने आते हैं और भावना करते हैं कि हे नाथ! हम कब मनुष्यभव प्राप्त करके केवलज्ञान प्रगट करेंगे?

यहाँ भक्ति के भाव में उछलते हुए भक्त कहते हैं कि हे सीमन्धरनाथ! हमें महाविदेह के मानवों से ईर्ष्या होती है... अरे रे! महाविदेह के मानव आपके चरणों का साक्षात् सेवन करते हैं और हमारा इस भरतक्षेत्र में अवतार... इतना अन्तर! हमें आपका विरह...! हे नाथ! आत्मा को इसका खेद होता है। परमार्थ से भगवान अन्तर में है – ऐसा भान, वह भगवान की स्तुति है और निमित्तरूप से तीर्थङ्कर भगवान की स्तुति है। ऐसा समझ-समझ कर जो भगवान के गीत गायेगा, वह भगवान होगा।

हे भगवान! आपके निर्मल स्वरूप की स्तुति करते हुए इन्द्रादिक को देखकर मनरहित भ्रमरों को भी इसकी ईर्ष्या हुई और वे भी गुञ्जार करके आपकी स्तुति करने लगे... तो हे जिनेन्द्र! जिसे मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ, आर्यक्षेत्र मिला, जैन सम्प्रदाय प्राप्त हुआ, सत्य का श्रवण मिला और अपूर्व बातें कान में पड़ीं, उसे लाभ न हो और तेरी भक्ति जागृत न हो – यह कैसे हो सकता है?

हे प्रभु! आपके समवसरण में पुष्पवृष्टि होती है, वह भी मानो आपकी स्तुति के शब्दों की लोरियाँ ही बरसतीं हों – ऐसा हमें लगता है। देखो तो सही! भक्त प्रतिक्षण-प्रतिपल भगवान को ही देखता है। चौबीसों घण्टे की क्रिया में 'भगवान आत्मा वीतराग' ऐसा रटन चलता है। हे वीतराग! आपने तो अपना कार्य पूरा कर दिया और हमें अभी अपूर्णता रह गयी है; इसलिए चौबीस घण्टों में एक क्षण भी आपकी वीतरागता का विस्मरण कैसे हो सकता

www.vitragvani.com



है ? जैसे माता से बिछुड़े हुए बालक को माता का विस्मरण एक क्षण के लिए भी नहीं होता; इसी प्रकार धर्मात्माओं के हृदय में तीर्थङ्करों की स्तुति ऐसी उत्कीर्ण हो गयी है कि वह एक समय के लिए भी विस्मृत नहीं होती।

भरत चक्रवर्ती, ऋषभदेव प्रभु के पुत्र हैं। भगवान के परम भक्त हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, उसी भव से मोक्ष जानेवाले हैं, छह खण्ड के अधिपति हैं। जिनके लिखने के चाक की (काकिणी रत्न की) एक हजार देव सेवा करते हैं, वे दिग्विजय करके वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम लिखते हैं, तब कहते हैं कि अरे! इस पर्वत पर अनन्त चक्रवर्तियों के नाम लिखे और मिटाये गये... मेरा नाम लिखने के लिए मुझसे पहले के चक्रवर्तियों के लिखे हुए नाम को मुझे मिटाना पड़ता है और मेरे लिखे हुए नाम को कोई दूसरा मिटा देगा... धिक्कार इस मोह को। धन्य है त्रिलोकनाथ वीतराग प्रभु को! मुझे इस भव में मोक्ष जाना है... भगवान ने मुझे कहा है कि तू इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेगा.... तथापि यह अस्थिरता का मोह / राग होता है, उसे धिक्कार हो। अहो! अन्तर में वीतरागता के अतिरिक्त अन्य भाव का किञ्चित् भी आदर नहीं है। मोह को कर्तव्य नहीं माना है; भिन्नपने का भान मिटकर मोह में नहीं लगते, अन्दर में अपनी प्रभुता का निःशङ्क भान है, अवस्था की अपेक्षा से आत्मा को धिक्कारते हैं और पूर्ण स्वभाव के गीत गाते हैं। इस प्रकार, हे वीतरागदेव! बड़े-बड़े चक्रवर्तियों के हृदय में भी आपकी स्तुति उत्कीर्ण हो गयी है।

यहाँ स्तुतिकार कहते हैं कि अहो! जिसे मन नहीं था – ऐसे

www.vitragvani.com



भ्रमर भी भगवान को देखकर स्तुति करने लगे और हमारा यह भक्ति का स्तोत्र सुनते हुए यदि तुझे अन्दर तें आह्लाद न आवे तो अरे जीव! तू भ्रमर से भी गया-बीता है। स्वयं को भक्ति का भाव उल्लसित हुआ है, इसलिए आचार्यदेव तो जहाँ देखो-वहाँ सबको भगवान की भक्ति करते हुए ही देख रहे हैं। हे भगवान! भ्रमर को मन नहीं होता और आपकी स्तुति करने के लिए मन दिया, तो हे प्रभु! मुझमें केवलज्ञान नहीं, वह पूरा दो। भ्रमर को तो मन दिया तो मुझे क्या नहीं दोगे? इस प्रकार अलङ्कार करके भक्ति में भी आचार्यदेव अपने केवलज्ञान की झंकार करते हैं। इस प्रकार यह भक्ति-सरिता केवलज्ञान समुद्र में जा मिलती है। ●●

## कौन है वीतराग का भक्त?

भगवान के कारण मुझे शुभराग हुआ; इस प्रकार जहाँ तक पर के कारण से राग होने की बुद्धि है, वहाँ तक वीतरागपना अंशमात्र भी नहीं होता तथा उस शुभराग से धर्म माननेवाले को भी किञ्चित् मात्र भी वीतरागता नहीं होती। सर्व प्रथम श्रद्धा में भी वीतरागता हुए बिना राग का अभाव कैसे होगा? आत्मा स्वयं ही पराश्रयभाव से राग करता है और स्वाश्रयभाव से राग का अभाव करके वीतरागता भी स्वयं करता है। इस प्रकार पहचानें तो स्वाश्रयतापूर्वक वीतरागता प्रगट करे। इसका नाम है वीतराग का भक्त।

*( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों में से )*

# किसने किये हैं भगवान के दर्शन

जो, जड़ और रागादिभावों से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूपी आत्मा का अनुभव करता है, वह वास्तव में धर्मी है, वही वास्तविक भक्त है। भगवान का भक्त परमार्थ से स्वयं अपने आत्मस्वभाव की ही स्तुति (श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) करता है।

लोग कहते हैं कि देव-दर्शन करने जाना है; वहाँ मानो कि भगवान से धर्म लेने जाते हों – ऐसा मानते हैं... परन्तु धर्म तो अन्तर के चैतन्य भगवान के पास पड़ा है, इसका उन्हें भान नहीं है।

ज्ञानी भी प्रतिदिन देव-दर्शन करने जाता है परन्तु उसे अन्तर में भान है कि मैं तो अपने भाव सुधारने के लिये जाता हूँ। मेरा धर्म तो मेरे स्वभाव में है, यह भगवान उसका प्रतिबिम्ब है। उनके दर्शन से स्वभाव की भावना करके अपनी वीतरागता में जितने वृद्धि करूँ, उतना मुझे लाभ है और जो राग रह जाता है, वह मेरा स्वभाव नहीं है। भगवान की और मेरी सत्ता अलग... आत्मा अलग... परन्तु स्वरूप तो एक समान है। मेरा स्वरूप भगवान से किञ्चित् भी कम नहीं है। इस प्रकार जो यथार्थ पहचानता है, वही भगवान का वास्तविक भक्त है, उसने ही परमार्थ से भगवान के दर्शन किये हैं।

*( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों में से )*

# किसे जगती है भगवान की भावना ?

धर्मात्मा अपने भाव को देखता है। अपने भाव में राग का अभाव होकर वीतरागता की वृद्धि कैसे हो ? – वही देखता है। वीतरागता के निमित्त तो निमित्त के कारण होते हैं; अन्दर स्वयं भगवान ही बैठा है। वह भगवानपना जिसे रुचा है, वह बाह्य में वीतरागी प्रतिबिम्ब में भगवान को स्थापित करता है। अपने भाव का निक्षेप करके कहता है कि यह भगवान है। वहाँ भाव तो अपना है न! प्रतिष्ठा के पश्चात् जब सीमन्धर भगवान जिनमन्दिर में पधारते थे, तब भक्त कहते थे कि पधारो भगवान पधारो। हे भगवान! आपको हम यहाँ पधराते हैं; इसलिए अब अन्दर से आपके जैसा स्वरूप है, वह प्रगट होगा ही।

अहा! बाहर में तो भगवान की स्थापना है और अन्दर में साक्षात् भगवान है। जिसे भाव में भगवानपना रुचा है, वह निमित्त में 'यह भगवान है' – ऐसा स्थापित करता है। वह अन्दर के भगवान का स्वीकार करते हुए भगवानपना प्रगट किये बिना नहीं रहेगा।

अहो! जिस क्षण आत्मा में भगवानपना प्रगट हो, उस घड़ी और उस पल को धन्य है। ऐसी भावना किसे जगती है ? जिसे अन्तर में भगवान के समान अपना स्वभाव भासित हुआ हो, उसे ऐसी भावना होती है और वह अल्प काल में भगवान हुए बिना नहीं रहेगा।

*( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से )*

# वीतरागता के लक्ष्यपूर्वक भगवान की भक्ति

चेतन, जड़ नहीं होता और जड़, चेतन नहीं होता। जड़ के स्वभाव में चेतनपना नहीं होता और चेतन के स्वभाव में जड़पना नहीं होता। जड़ के संयोग से होनेवाला विकार भी वस्तुत: चेतन का स्वभाव नहीं है। जैसे, सर्वज्ञदेव वीतराग बिम्ब है, वैसा ही आत्मा का स्वभाव है – ऐसे लक्ष्यसहित वीतराग भगवान की भक्ति इत्यादि का राग आवे, वह प्रात:काल की सन्ध्या / लालिमा जैसा है। जिस प्रकार प्रात:काल की सन्ध्या / लालिमा के पश्चात् सूर्योदय होता है और सायंकाल की सन्ध्या / लालिमा के पश्चात् सूर्यास्त हो जाता है; उसी प्रकार वीतरागता के लक्ष्यपूर्वक भगवान की भक्ति इत्यादि का जो शुभराग है, वह प्रात:कालीन लालिमा के समान है; तत्पश्चात् जगमगाता चैतन्य सूर्य उदय होनेवाला है।

जिसे वीतरागता का लक्ष्य नहीं है, वीतरागदेव की भक्ति नहीं है और मात्र शरीरादि जड़ के राग का ही पोषण करता है, उसे तो उस लालिमा के पश्चात् अन्धकार आयेगा, उससे चैतन्यसूर्य ढँक जायेगा।

जहाँ स्वभाव का लक्ष्य है, वहाँ वर्तमान राग की लालिमा की मुख्यता नहीं है, अपितु यह राग मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार वीतरागस्वरूप के लक्ष्य से वह राग मिटकर चैतन्य प्रकाश प्रगट होगा और पूर्ण केवलज्ञान होगा।

*( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से )*

## जन्म-मरण विनाशक

# भगवान की भक्ति

जड़ देह और भगवान आत्मा भिन्न है; इसलिए शरीर की स्तुति से भगवान आत्मा की स्तुति परमार्थ से नहीं होती है। भगवान के आत्मा की स्तुति से ही परमार्थ स्तुति होती है और परमार्थ में तो जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही अपना आत्मा है; इसलिए अपने शुद्ध-ज्ञायक आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता ही भगवान की परमार्थ स्तुति है, वह धर्म है और उसके लक्ष्य से बीच में भगवान की ओर का विकल्प उत्पन्न होना, वह व्यवहार स्तुति है, उससे पुण्यबन्धन होता है।

जो अल्पज्ञ प्राणी हैं और वीतरागता की प्रीति है, उस जीव को वीतराग भगवान के प्रति भक्ति का राग आये बिना नहीं रहेगा। वहाँ भगवान के सच्चे भक्त को भान है कि जैसा वीतराग केवली भगवान का आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। भक्ति करते हुए जो राग होता है, वह पुण्यबन्ध का कारण है, वह राग मेरा स्वभाव नहीं है – ऐसा भान करना ही भगवान की प्रथम परमार्थ स्तुति है।

www.vitragvani.com



भगवान पाँच सौ धनुष ऊँचे; भगवान कञ्चनवर्णी – ऐसे वर्णन द्वारा भगवान आत्मा की परमार्थ स्तुति नहीं होती क्योंकि वह तो देह का वर्णन है। यदि उस समय देह से भिन्न आत्मा के स्वभाव का लक्ष्य हो तो उस स्तुति को भगवान की व्यवहार स्तुति कहा जाता है। उस व्यवहार स्तुति से पुण्य होता है और आत्मस्वभाव की पहचानरूप जो परमार्थ भक्ति है, वह धर्म है, उससे जन्म –मरण का अभाव होता है।

यदि आत्मा के परमार्थस्वभाव को न पहचाने तो भगवान की भक्ति से जन्म–मरण का अभाव नहीं होता। उसने वस्तुतः भगवान की भक्ति नहीं की, अपितु राग की भक्ति की है।

साधक धर्मात्मा को भगवान की दोनों प्रकार की स्तुति होती है परन्तु उसमें व्यवहार–भक्ति का जो शुभराग है, उस राग को वह आदरणीय नहीं मानता। जो राग को रखने योग्य मानता है, वह जीव, वीतरागता का भक्त नहीं, अपितु मिथ्यादृष्टि है; वीतराग का भक्त, राग को रखनेयोग्य क्यों मानेगा?

*( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से )*

# वीतरागमुद्रित जिनप्रतिमा

जिसे आत्मा का भान है, वह भगवान का परम भक्त सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अन्तर में वीतरागी-स्वभाव के अतिरिक्त किसी रागभाव का आदर नहीं करता और बाह्य में निमित्तरूप से भी वीतरागी प्रतिमा के अतिरिक्त दूसरे का बहुमान नहीं करता।

श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाजी की मुद्रा में एकदम वैराग्यता दिखनी चाहिए... ज्ञायकबिम्ब वीतरागी मुद्रा होनी चाहिए... जिनकी मुद्रा देखते ही ऐसा लगे कि मानो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त बल में लीनता से ही भगवान तृप्त-तृप्त हों – ऐसी वीतराग की प्रतिमा होती है।

यद्यपि वीतरागभाव तो स्वयं को स्वयं में से ही निकालना है परन्तु जब बाहर में लक्ष्य जाए, तब निमित्तरूप ऐसी वीतरागी मुद्रा ही होती है। भगवान वीतराग हैं, उनकी प्रतिमा पर शृंगार नहीं होता, उन्हें आहार नहीं होता। भगवान की मुद्रा तो परम उपशमरस में झूलती है, जिसे देखते ही ज्ञायकस्वभावी आत्मा स्मरण में आता है। भगवान का ऐसा स्वरूप पहचाने बिना भगवान की सच्ची

www.vitragvani.com



भक्ति नहीं उछलती है। जिसने जीवन में कभी वीतराग भगवान को नहीं देखा, नहीं जाना उसे सच्ची भक्ति कहाँ से आयेगी? वह भगवान की भक्ति के नाम पर पुण्य बाँधेगा, परन्तु उसे धर्म नहीं होता, संसार से छुटकारा नहीं होता।

यहाँ कोई अज्ञानी यह कहता है कि व्यवहारनय को तो असत्यार्थ कहा है और भगवान का शरीर तथा प्रतिमा तो जड़ है; अतः उसकी स्तुति किसलिए करना?

उससे यहाँ आचार्यदेव कहते हैं अरे मूढ़! हमने व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं कहा है। छद्मस्थ जीव को अपने अथवा पर का आत्मा केवली के तरह साक्षात् तो दिखता नहीं है, शरीर दिखता है। वहाँ जिसे अन्तर में वीतरागी आत्मा का लक्ष्य है, उसे शान्तभावरूप मुद्रा देखकर अपने को भी शान्तभाव होता है। प्रतिमा की शान्त मुद्रा देखकर अन्तरङ्ग में आत्मा के वीतरागभाव का निर्णय होता है; इसलिए परमार्थ के भानसहित साधक को व्यवहार स्तुति ही भूमिका होती है। यदि उसका सर्वथा निषेध करे तो वह अज्ञानी है तथा जो उसे ही धर्म मान लेता है, वह भी अज्ञानी है।

भगवान को देखकर अन्तर में वीतरागी आत्मा का स्मरण कौन करेगा? – जिसने अन्तर में आत्मा के वीतराग स्वभाव का निर्णय किया होगा वह। अल्पज्ञ प्राणी आत्मा को केवली भगवान की तरह साक्षात् नहीं देख सकता परन्तु अन्तर में स्वानुभव से आत्मा के स्वभाव का निःशंक निर्णय अवश्य कर सकता है और वह जीव भगवान की शान्त मुद्रा देखकर आत्मा के स्वभाव को स्मरण में लाता है।

www.vitragvani.com



अभी महाविदेहक्षेत्र में समवसरण के मध्य श्री सीमन्धर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं, वहाँ भी उनका आत्मा नजरों से नहीं दिखता परन्तु शान्त देह दिखती है; उससे भगवान की वीतरागता का अनुमान हो जाता है। समवसरण में स्वर्ण का सिंहासन होता है, उससे भी भगवान चार अंगुल ऊँचे आकाश में विराजते हैं। भगवान के शरीर पर वस्त्र नहीं होते, हाथ में माला अथवा शस्त्र नहीं होते और बगल में स्त्री नहीं होती। उनके शरीर में रोगादि नहीं होते, आहार नहीं होता, उनकी मुद्रा पर भय, शोक अथवा हास्य नहीं होता। उनकी ध्यानस्थ मुद्रा एकदम शान्त वीतरागी, निर्विकार होती है। उनके सर्वाङ्ग से इच्छा बिना सहजरूप से दिव्यध्वनि खिरती है, उसमें सर्व पदार्थों के वस्तुस्वभाव का कथन आता है – ऐसे भगवान को देखने से चैतन्यबिम्ब आत्मस्वभाव लक्ष्य में आता है कि अहो! ऐसा मेरा आत्मस्वभाव...! अविकारी आत्मस्वभाव का स्मरण और बहुमान होने पर संसार का स्मरण विस्मृत हो जाता है और राग की रुचि मिट जाती है। इसका नाम भगवान का सच्चा स्तवन है। *( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से )*

# भगवान की व्यवहार स्तुति भी किसे ?

समवसरण में विराजमान श्री तीर्थङ्कर भगवान की व्यवहार स्तुति भी इस प्रकार की जाती है कि हे जिनेन्द्र! आपका शरीर परम सुन्दर और अविकार है। आपकी देह दिव्य परमौदारिक है। जन्म से आपको आहार था, किन्तु निहार नहीं था और परमात्मदशा होने के पश्चात् तो आहार भी नहीं रहा। आपका रूप सबको सुन्दर लगता है। आपकी वाणी, भव्य जीवों को अमृत जैसी लगती है। आपकी मुद्रा सागरवत् अतिगम्भीर है। आपके ज्ञान में सब प्रतिभासित होने से मुद्रा पर किञ्चित् भी विस्मय अथवा कौतुहलता नहीं होती। आपकी मुद्रा चलाचलतारहित है। दुनिया के विविध प्रसङ्ग ज्ञान में प्रतिभासित होने पर भी आपकी मुद्रा, वीतरागता से किञ्चित्मात्र चलायमान नहीं होती।

हे नाथ! आपकी धर्मसभा में सिंह और हिरण जैसे प्राणी भी निर्भयरूप से एक साथ बैठते हैं और कोई किसी की हिंसा नहीं करता। ऐसे-ऐसे प्रकार से शरीर आदि के वर्णन से भगवान की जो स्तुति की जाती है, वह परमार्थ स्तुति नहीं है। शरीर का रूप अथवा दिव्यध्वनि इत्यादि कोई भगवान का वास्तविक स्वरूप नहीं है, वह तो पुण्य का फल है। जो उस बाह्य पुण्य के फल के वर्णन को ही भगवान का वास्तविक स्वरूप मान ले और उस पुण्य से भिन्न भगवान के वीतराग स्वरूप नहीं पहचाने, अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं पहचाने तो वह जीव, अज्ञानी है; वह अधिक से अधिक पुण्य बाँधेगा परन्तु उसे भगवान की सच्ची स्तुति (निश्चय से अथवा व्यवहार से) नहीं होती।

www.vitragvani.com



भगवान आत्मा का परमार्थस्वरूप जाननेवाले को ही भगवान की सच्ची स्तुति होती है। भगवान आत्मा के परमार्थस्वरूप को जाननेवाला जीव, पुण्य को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता, पुण्य से धर्म नहीं मानता। कथन में भले ही देह का वर्णन आये परन्तु उस समय भी 'भगवान का आत्मा तो देह से पृथक् ज्ञानस्वरूप है, वीतराग है और मेरा आत्मा भी वैसा ही ज्ञानस्वरूप वीतराग है' – ऐसा लक्ष्य अन्तर में होने पर ही, वहाँ भगवान की व्यवहार स्तुति है परन्तु यदि ऐसा लक्ष्य न हो, तब तो व्यवहार स्तुति भी सच्ची नहीं है। वह जीव भगवान की स्तुति नहीं करता, किन्तु विकार और जड़ की स्तुति करता है।

धर्मी को शुभराग होता है और शरीर के गुण की बात व्यवहार से आती है परन्तु वहाँ उस धर्मी का लक्ष्य तो ज्ञानस्वरूप आत्मा पर है। भगवान के आत्मा के गुण के साथ वह अपनी आत्मा के गुण को मापता है और जितना गुण का अंश प्रगट हुआ, उतनी भगवान की स्तुति हुई – ऐसा वह जानता है, वही भगवान के सच्चे गीत गाता है। वहाँ जो शुभराग रहा, उस पर भगवान की व्यवहार स्तुति का आरोप आता है। केवलीप्रभु के समान मेरा आत्मा– जिससे धर्म होता है और जिससे जन्म–मरण का अभाव होता है... इस प्रकार जिसने अपने स्वभाव की श्रद्धा की है, वह भगवान का भक्त हुआ, जिनेन्द्र का नन्दन हुआ; उसे इन्द्रियाधीनपने का अभाव हुआ; इसलिए वह जितेन्द्रिय हुआ, धर्मात्मा हुआ।

इस प्रकार आत्मा का सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन ही भगवान की वास्तविक स्तुति है। *( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से )*

# क्या करता है भगवान का भक्त!

जिन्हें पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गयी है – ऐसे श्री तीर्थङ्करदेव के शरीर की स्तुति करने में मात्र पुण्य परिणाम है, उससे आत्मा के धर्म का कुछ लाभ नहीं है। धर्म करनेवाला जीव, अर्थात् भगवान का सच्चा भक्त तो भगवान के अविनाशी ज्ञानस्वरूपी आत्मा को पहचान कर और वैसे ही अपने आत्मा को पहचान कर अपने में अविनाशीपना प्रगट करता है।

सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने जो केवलज्ञानादि प्रगट किये हैं, वे अविनाशी हैं। पुण्य-पाप के भाव तो नाशवान हैं, उनसे अविनाशीपना प्राप्त नहीं होता। भगवान का भक्त होने के लिए पहले वस्तु का सच्चा स्वरूप समझना चाहिए। आत्मा को समझने के प्रयत्न में काल जाए – उसकी आपत्ति नहीं है; वहाँ थोड़ी देर लगे तो भी वह सत्य के मार्ग पर है परन्तु यदि आत्मा के सत्यस्वरूप को समझने का मार्ग ग्रहण नहीं करता तो वह जीव अज्ञानभाव से संसार के भवों में ही भटकता फिरेगा। आत्मा की समझ के बिना कहीं भी उसके भवभ्रमण का अन्त नहीं आयेगा। सच्ची समझ होगी तो अल्प काल में भव का अन्त आ जाएगा।

भगवान का सच्चा भक्त होने के लिए प्रथम तो आत्मा की स्थिरता न्यूनाधिक भले ही हो परन्तु जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव है और उसका जो मार्ग है, वैसा ही श्रद्धा में तो लेना चाहिए... सम्यक्श्रद्धा करना भी सत्य का मार्ग है... उस श्रद्धा से भी धर्मीपना टिका रहेगा परन्तु जो विपरीत श्रद्धा करेगा, उसका तो मनुष्यभव व्यर्थ चला जाएगा। *( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से )*

# सच्ची भक्ति का फल मुक्ति

वीतरागदेव तीर्थङ्कर भगवान की सच्ची स्तुति करनेवाला जीव कैसा होता है – यह बात श्री समयसार की इकतीसवीं गाथा में है और आज अपने यहाँ भी श्री सीमन्धर भगवान की भक्ति का महाप्रसङ्ग है।

पाँच जड़ इन्द्रियों, उनके विषयभूत बाह्य पदार्थों तथा उस सन्मुख ढली हुए खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ, वह मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो अखण्ड ज्ञायक हूँ, इस प्रकार समझनेवाला जीव, वीतराग प्रभु की सच्ची स्तुति करता है। इसके अतिरिक्त पर को विकार को अथवा खण्ड-खण्डरूप ज्ञान को ही जो आत्मा का स्वरूप मानता है, उसने वीतराग को नहीं पहचाना है। वीतराग भगवान का आत्मा तो अतीन्द्रिय अखण्ड ज्ञानानन्दमय है। उनकी सच्ची भक्ति करने के लिए वैसे आत्मस्वरूप को पहचानना तो पड़ेगा न! पहचान किये बिना भक्ति किसकी करेगा?

शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करना, वह भगवान की पहली स्तुति है। जैसे भगवान हैं, उनके जैसा किञ्चित् भाव अपने में प्रगट करे तो वह भगवान का भक्त कहलायेगा न! भगवान,

www.vitragvani.com



इन्द्रियों से नहीं जानते; इसलिए इन्द्रियों से भिन्न हैं; रागरहित और पूर्ण ज्ञानमय हैं – ऐसा ही अपना आत्मा है। स्वयं भगवान से किञ्चित् हीन अथवा अपूर्ण नहीं है – ऐसी श्रद्धा से धर्म की शुरुआत होती है और वही भगवान की भक्ति है।

जो जीव धर्म करना चाहता है, उसे धर्म करके अपने में टिका रखना है। स्वयं जहाँ रहता है, वहाँ धर्म साथ ही रहे – ऐसा धर्म करना है। यदि धर्म बाहर के पदार्थों से होता हो तो उन बाह्य पदार्थों के चले जाने पर धर्म भी चला जाएगा; इसलिए ऐसा धर्म नहीं होता। धर्म तो अन्तर में आत्मा के ही आश्रय से है, आत्मा के सिवाय बाह्य किसी भी पदार्थ के आश्रय से आत्मा का धर्म नहीं होता।

लोग भगवान के दर्शन करने जाएँ, वहाँ यह मान लेते हैं कि हम धर्म कर आये... क्योंकि मानो भगवान के पास इसका धर्म हो! अरे भाई! यदि बाहर में भगवान के दर्शन से ही तेरा धर्म होता हो, तब तो उन भगवान के दर्शन करे, उतने समय ही धर्म रहेगा और वहाँ से हट जाने पर तेरा धर्म भी चला जाएगा...। इसलिए घर में तो किसी को धर्म होगा ही नहीं।

जिस प्रकार भगवान वीतराग हैं, वैसा ही भगवान मैं हूँ – ऐसा भान करके अन्तर में चेतनमूर्ति भगवान के सम्यक् दर्शन करे तो उस भगवान के दर्शन से धर्म होता है और यह भगवान तो जहाँ जाए, वहाँ साथ ही है; इसलिए वह धर्म भी सदा ही रहा करता है। यदि एक बार भी ऐसे भगवान के दर्शन करे तो जन्म-मरण का अभाव हो जाता है।

www.vitragvani.com



बहुत से लोग भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे नाथ! हे जिनेन्द्र! आप पूर्ण वीतराग हो, सर्वज्ञ हो... परन्तु 'मेरा आत्मा भी रागरहित सर्वज्ञ स्वरूप है।' – इस प्रकार अपने आत्मा की श्रद्धा को साथ मिलाकर यदि भगवान की स्तुति करे, तभी वह सच्ची स्तुति है। यहाँ भगवान की प्रतिष्ठा होती है, उसमें भी भगवान की भक्ति में ऐसा लक्ष्य रखना चाहिए। जो ऐसा लक्ष्य रखता है, उसने ही वास्तव में भगवान को स्थापित किया कहा जाता है। उसने अपनी आत्मा में भगवान की प्रतिष्ठा की –ऐसा कहा जाता है। वह अल्प काल में साक्षात् भगवान हो जाएगा।

लोग धर्म करने का मानते हैं परन्तु ज्ञानी उन्हें आत्मा की पहचान करने के लिए कहें, तब वे कहते हैं कि कौन जाने आत्मा कहाँ होगा और कैसा होगा? – यह कुछ पता नहीं पड़ता। ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! जिसे धर्म करना है, उसे जाने बिना तू धर्म किस प्रकार करेगा? आत्मा को जाने बिना आत्मसन्मुख किस प्रकार होगा और आत्मसन्मुख हुए बिना तुझे धर्म कहाँ से होगा? समझे बिना पुण्य में धर्म मान लेगा तो उसमें तो विपरीत दृष्टि का पोषण होगा।

ज्ञानी धर्मात्मा को भगवान की भक्ति इत्यादि का भाव आयेगा परन्तु उनकी दृष्टि आत्मा पर पड़ी है, उन्हें आत्मा का भान है; उस भान में उन्हें प्रतिक्षण धर्म होता है। सच्ची समझवाले को वीतरागीदेव –शास्त्र–गुरु के प्रति भक्ति का प्रशस्त राग आये बिना नहीं रहेगा।

www.vitragvani.com



भगवान की भक्ति के भाव का निषेध करके, खाने-पीने इत्यादि के अप्रशस्त राग में झुकता है, वह तो मरकर दुर्गति में जाएगा। वीतरागी आत्मा का लक्ष्य हो और कठोर राग न टले, यह कैसे हो सकता है ?

मेरा स्वरूप ज्ञान है, राग मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जो सत्य को जानता है, उसे लक्ष्मी इत्यादि के प्रति रुचि सहज ही छूट जाती है और भगवान की भक्ति प्रभावना इत्यादि का भाव उछलता है, तथापि वह जानता है कि यह राग है, यह कोई धर्म नहीं है। अन्तर में शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को जानकर उसे प्रगट किये बिना जन्म-मरण का अभाव नहीं होगा।

देखो, धर्म की यह यथार्थ बात मिलना भी बहुत दुर्लभ है। बाह्य साधु होकर सब कुछ छोड़कर जंगल में जाकर सूख जाए तो भी यह वस्तुदृष्टि प्राप्त हो – ऐसी नहीं है... अभी लोगों को सत्य बात सुनने मिलना भी दुर्लभ हो गयी है। जिसकी दृष्टि स्व स्वभाव पर नहीं गयी है, उसे धर्म कैसे हो सकता है ? धर्म तो आत्मा में से होता है; इसलिए पहले पर से निराले आत्मस्वभाव की श्रद्धा करे तो धर्म होता है; इसके अतिरिक्त बाहर से कुछ प्राप्त नहीं हो सकता – ऐसा भान करना ही श्री सीमन्धर भगवान की सच्ची भक्ति है और इस भक्ति का फल मुक्ति है।

*( - सोनगढ़ प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचनों से )*